वन्य-समाज और उपनिवेशवाद

अपने स्कूल और घर में चारों ओर नज़र दौड़ाकर उन सभी वस्तुओं को पहचानें जो जंगल की हैं-इस किताब का कागज़, मेज़-कुर्सियाँ, दरवाज़े-खिड़कियाँ, वे रंग जिनसे आपके कपड़े रंगे जाते हैं, मसाले, आपकी टॉफ़ी के सेलोफ़ेन रैपर, बीड़ियों के तेंदू पत्ते, गोंद, शहद, कॉफ़ी, चाय और रबड़। साथ ही चॉकलेट में इस्तेमाल होने वाला तेल जो साल के बीजों से निकलता है, खाल से चमड़ा बनाने में इस्तेमाल होने वाला चर्मशोधक (टैनिन) या दवाओं के रूप में इस्तेमाल होने वाली जड़ी-बूटियाँ–इन सबको भी हमें नहीं भूलना चाहिए। और हाँ, बाँस, जलावन की लकड़ी, घास, कच्चा कोयला, पैकिंग में उपयोग होने वाली वस्तुएँ, फल-फूल, पशु-पक्षी एवं ढेरों दूसरी चीज़ें भी तो जंगलों से ही आती हैं। ऐमेज़ॉन या पश्चिमी घाट के जंगलों के एक ही टुकड़े में पौधों की 500 अलग-अलग प्रजातियाँ मिल जाती हैं।

यह विविधता तेज़ी से लुप्त होती जा रही है। औद्योगीकरण के दौर में सन् 1700 से 1995 के बीच 139 लाख वर्ग किलोमीटर जंगल यानी दुनिया के कुल क्षेत्रफल का 9.3 प्रतिशत भाग औद्योगिक इस्तेमाल, खेती-बाड़ी, चरागाहों व ईंधन की लकड़ी के लिए साफ़ कर दिया गया।

चित्र 1 - यह छत्तीसगढ़ का एक साल वन है.
घना होने के कारण जंगल की सतह तक सूरज की रोशनी यहाँ कम ही पहुँच पाती है। इस चित्र में आप पेड़-पौधों के विभिन्न आकार और प्रजातियाँ देख सकते हैं।

1 वनों का विनाश क्यों?

वनों के लुप्त होने को सामान्यत: वन-विनाश कहते हैं। वन-विनाश कोई नयी समस्या नहीं है। वैसे तो यह प्रक्रिया कई सदियों से चली आ रही थी लेकिन औपनिवेशिक शासन के दौरान इसने कहीं अधिक व्यवस्थित और व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। आइए, भारत में वन-विनाश के कुछ कारणों पर गौर करें।

1.1 ज़मीन की बेहतरी

सन् 1600 में हिंदुस्तान के कुल भू-भाग के लगभग छठे हिस्से पर खेती होती थी। आज यह आँकड़ा बढ़ कर आधे तक पहुँच गया है। इन सदियों के दौरान जैसे-जैसे आबादी बढ़ती गयी और खाद्य पदार्थों की माँग में भी वृद्धि हुई, वैसे-वैसे किसान भी जंगलों को साफ़ करके खेती की सीमाओं को विस्तार देते गए। औपनिवेशिक काल में खेती में तेज़ी से फैलाव आया।

चित्र 2 - ह्वेन द वैलीज़ वर फुल (जब घाटियाँ भरी पड़ी थीं)। *जॉन डॉसन की पेंटिंग.*
लाकोता जैसे देशज अमेरिकी आदिवासी समूह, जो इन विशाल उत्तर-अमेरिकी मैदानों में रहते थे, का अर्थतंत्र अत्यंत वैविध्यपूर्ण था। वे मक्का उगाते, बीसन का शिकार करते और जंगली पौधों की खोज में रहते थे। अंग्रेज़ आबादकारों ने बीसनों के लिए विशाल भू-भाग को खुला छोड़ना बेकार समझा। 1860 के बाद बीसनों की बहुत बड़ी संख्या में हत्या की गई।

इसकी कई वजहें थीं। पहली, अंग्रेज़ों ने व्यावसायिक फ़सलों जैसे पटसन, गन्ना, गेहूँ व कपास के उत्पादन को जम कर प्रोत्साहित किया। उन्नीसवीं सदी के यूरोप में बढ़ती शहरी आबादी का पेट भरने के लिए खाद्यान्न और औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चे माल की ज़रूरत थी। लिहाज़ा इन फ़सलों की माँग में इजाफ़ा हुआ। दूसरी वजह यह थी कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में औपनिवेशिक सरकार ने जंगलों को अनुत्पादक समझा। उनके हिसाब से इस व्यर्थ के बियाबान पर खेती करके उससे राजस्व और कृषि उत्पादों को पैदा किया जा सकता था और इस तरह राज्य की आय में बढ़ोतरी की जा सकती थी। यही वजह थी कि 1880 से 1920 के बीच खेती योग्य ज़मीन के क्षेत्रफल में 67 लाख हेक्टेयर की बढ़त हुई।

खेती के विस्तार को हम विकास का सूचक मानते हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ज़मीन को जोतने के पहले जंगलों की कटाई करनी पड़ती है।

बॉक्स 1

किसी स्थान पर खेती न होने का मतलब उस जगह का गैर-आबाद होना नहीं है। जब गोरे आबादकार ऑस्ट्रेलिया पहुँचे तो उन्होंने दावा किया कि यह महाद्वीप खाली था। वास्तव में, ये आदिवासी पथ-प्रदर्शकों के नेतृत्व में, पुरातन रास्तों से इस भू-भाग में प्रविष्ट हुए थे। ऑस्ट्रेलिया के विभिन्न आदिवासी समुदायों के अपने स्पष्ट विभाजित इलाके थे। ऑस्ट्रेलिया के नगार्रिन्दजेरियों (Ngarrindjeri) की अपनी ज़मीन की आकृति इनके पहले पूर्वज, नगुरूनदेरी (Ngurunderi) के प्रतीकात्मक शरीर जैसी थी। यह ज़मीन पाँच अलग-अलग प्राकृतिक प्रदेशों : खारे पानी, झीलों, झाड़ियों, रेगिस्तानी मैदानों, नदीतटीय मैदानों को अपने में समेटे हुए थी, जो अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक ज़रूरतों को पूरा किया करते थे।

स्रोत क

परती ज़मीन पर कब्ज़ा करके उसे खेती के योग्य बनाया जाए, यह विचार सारी दुनिया के उपनिवेशकों के बीच शुरू से ही लोकप्रिय रहा है। यही वह विचार था जिसने विजय को न्यायोचित ठहराया।

अमेरिकी लेखक रिचर्ड हार्डिंग 1896 में मध्य-अमेरिका के हॉन्डूरास के बारे में लिखते हैं:

'आज इससे बढ़कर रोचक सवाल कुछ और नहीं हो सकता कि दुनिया की गैर-विकसित पड़ी ज़मीन का क्या किया जाए; क्या इसे उस महान शक्ति के हाथों में जाना चाहिए जो इसके परिवर्तन की इच्छा रखती है या कि इसे इसके वास्तविक स्वामी के हाथों में ही रहने देना चाहिए, जो इसके मूल्य को नहीं समझ सकता। ये मध्य-अमेरिकी एक सुसज्जित घर में अर्ध-बर्बरों के गिरोह जैसे हैं जो न तो इस घर का उपयोग ही कर सकते हैं और न ही इसमें आराम।'

तीन साल बाद अमेरिकी-आधिपत्य में यूनाइटेड फ्रूट कंपनी का गठन हुआ जिसने व्यापक पैमाने पर मध्य-अमेरिका में केले उगाना प्रारंभ किया। इस कंपनी ने इन मुल्कों की सरकारों पर इस हद तक अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था कि इन्हें 'बनाना रिपब्लिक' के नाम से जाना गया।

डेविड स्पर, 'द *रेटरिक ऑफ़ एम्पायर*' (1993) में उद्धृत।

1.2 पटरी पर स्लीपर

नए शब्द

स्लीपर: रेल की पटरी के आर-पार लगे लकड़ी के तख्ते जो पटरियों को उनकी जगह पर रोके रखते हैं।

चित्र 3 - सिंहभूम के जंगलों में साल के तनों से 'स्लीपरों' का निर्माण, छोटा नागपुर, मई 1897.
रेल की पटरी हेतु स्लीपर बनाने के लिए वन-विभाग पेड़ों को काटने और इनसे पटरे बनाने के लिए तो आदिवासियों को नियुक्त किया करता था लेकिन उनको अपने घर बनाने के लिए इन पेड़ों को काटने की अनुमति न थी।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक इंग्लैंड में बलूत (ओक) के जंगल लुप्त होने लगे थे। इसकी वजह से शाही नौसेना के लिए लकड़ी की आपूर्ति में मुश्किल आ खड़ी हुई। मज़बूत और टिकाऊ लकड़ी की नियमित आपूर्ति के बिना अंग्रेज़ी जहाज़ भला कैसे बन सकते थे? और जहाज़ों के बिना शाही सत्ता कैसे बचाई और बनाए रखी जा सकती थी? 1820 के दशक में खोजी दस्ते हिंदुस्तान की वन-संपदा का अन्वेषण करने के लिए भेजे गए। एक दशक के भीतर बड़े पैमाने पर पेड़ काटे जाने लगे और भारी मात्रा में लकड़ी का हिंदुस्तान से निर्यात होने लगा।

1850 के दशक में रेल लाइनों के प्रसार ने लकड़ी के लिए एक नई तरह की माँग पैदा कर दी। शाही सेना के आवागमन और औपनिवेशिक व्यापार के लिए रेल लाइनें अनिवार्य थीं। इंजनों को चलाने के लिए ईंधन के तौर पर और रेल की पटरियों को जोड़े रखने के लिए 'स्लीपरों' के रूप में लकड़ी की भारी ज़रूरत थी। एक मील लंबी रेल की पटरी के लिए 1760-2000 स्लीपरों की आवश्यकता पड़ती थी।

भारत में रेल-लाइनों का जाल 1860 के दशक से तेज़ी से फैला। 1890 तक लगभग 25,500 कि.मी. लंबी लाइनें बिछायी जा चुकी थीं। 1946 में इन लाइनों की लंबाई 7,65,000 कि.मी. तक बढ़ चुकी थी। रेल लाइनों के प्रसार के साथ-साथ बड़ी तादाद में पेड़ भी काटे गए। अकेले मद्रास प्रेसीडेंसी में 1850 के दशक में प्रतिवर्ष 35,000 पेड़ स्लीपरों के लिए काटे गए। सरकार ने आवश्यक मात्रा की आपूर्ति के लिए निजी ठेके दिए। इन ठेकेदारों ने बिना सोचे-समझे पेड़ काटना शुरू कर दिया। रेल लाइनों के इर्द-गिर्द जंगल तेज़ी से गायब होने लगे।

चित्र 4 - बाँस के बेड़े कासालाँग नदी में बह कर जाते हुए, चिट्टगाँग पर्वतीय पट्टी.

चित्र 5 - रंगून के एक लकड़ी गोदाम में लकड़ी के शहतीर सहेजता हुआ हाथी.
औपनिवेशिक दौर में अकसर हाथियों का इस्तेमाल जंगलों और लकड़ी के गोदामों में भारी-भरकम लकड़ी को उठाने के लिए किया जाता था।

स्रोत ख

'मुल्तान और सुक्कूर के बीच इंडस वैली रेलवे नाम से लगभग 300 मील लंबी एक नई लाइन बनायी जानी थी। 2000 स्लीपर प्रति मील की दर से, इसके लिए 10 फ़ुट ×10 इंच × 5 इंच (या 3.5 घन फ़ुट प्रति इकाई) के 600,000 स्लीपर की ज़रूरत होगी या कि 2,00,000 क्यूबिक फ़ीट से ऊपर लकड़ी की। इन इंजनों को ईंधन के लिए लकड़ी चाहिए। दोनों तरफ़ प्रतिदिन एक ट्रेन व एक मन प्रति ट्रेन-मील के हिसाब से सालाना 2,19,000 मन की ज़रूरत होगी। इसके अलावा ईंटों के लिए भी भारी मात्रा में ईंधन की ज़रूरत होगी। स्लीपर मुख्य रूप से सिंध के जंगलों से आया करेंगे। यह ईंधन, सिंध और पंजाब के झाऊ (Tamarisk) और झांड (Jhand) के जंगलों से लाया जाना था। दूसरी नयी लाइन नॉर्दर्न स्टेट रेलवे, लाहौर से मुल्तान तक थी। आँकड़ों के हिसाब से इसके निर्माण के लिए 22,00,000 स्लीपर की ज़रूरत होगी।'

ई.पी.स्टेबिंग, द *फ़ॉरेस्ट्स ऑफ़ इंडिया,* भाग II (1923)।

क्रियाकलाप

एक मील लंबी रेल की पटरी के लिए 1,760 से 2,000 तक स्लीपर की ज़रूरत थी। यदि 3 मीटर लंबी बड़ी लाइन की पटरी बिछाने के लिए एक औसत कद के पेड़ से 3-5 स्लीपर बन सकते हैं तो हिसाब लगा कर देखें कि एक मील लंबी पटरी बिछाने के लिए कितने पेड़ काटने होंगे?

चित्र 6 - ईंधन की लकड़ी इकट्ठा कर घर को लौटती औरतें.

चित्र 7 - लट्ठे ले जाता हुआ ट्रक.
लट्ठे काटने के लिए किसी क्षेत्र का चुनाव करने के बाद वन विभाग सबसे पहले चौड़ी सड़कों का निर्माण करता है जिससे ट्रकों का प्रवेश संभव हो सके। जंगल के उन रास्तों से इसकी तुलना करें जिनसे होकर लोग ईंधन की लकड़ी या दूसरे लघु वन-उत्पाद इकट्ठा करने के लिए जाया करते थे। ऐसे अनेक ट्रक लकड़ी से भरे हुए जंगलों से बड़े शहरों को जाते थे।

1.3 बागान

यूरोप में चाय, कॉफ़ी और रबड़ की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए इन वस्तुओं के बागान बने और इनके लिए भी प्राकृतिक वनों का एक भारी हिस्सा साफ़ किया गया। औपनिवेशिक सरकार ने जंगलों को अपने कब्ज़े में लेकर उनके विशाल हिस्सों को बहुत सस्ती दरों पर यूरोपीय बागान मालिकों को सौंप दिया। इन इलाकों की बाड़ाबंदी करके जंगलों को साफ़ कर दिया गया और चाय-कॉफ़ी की खेती की जाने लगी।

चित्र 8 - प्लेज़र ब्राँड चाय

2 व्यावसायिक वानिकी की शुरुआत

पिछले खंड में हमने देखा कि जहाज़ और रेल की पटरियाँ बिछाने के लिए अंग्रेज़ों को जंगलों की ज़रूरत थी। अंग्रेज़ों को इस बात की चिंता थी कि स्थानीय लोगों द्वारा जंगलों का उपयोग व व्यापारियों द्वारा पेड़ों की अंधाधुंध कटाई से जंगल नष्ट हो जाएँगे। इसलिए उन्होंने डायट्रिच ब्रैंडिस नामक जर्मन विशेषज्ञ को इस विषय पर मशविरे के लिए बुलाया और उसे देश का पहला वन महानिदेशक नियुक्त किया गया।

ब्रैंडिस ने महसूस किया कि लोगों को संरक्षण विज्ञान में प्रशिक्षित करना और जंगलों के प्रबंधन के लिए एक व्यवस्थित तंत्र विकसित करना होगा। इसके लिए कानूनी मंज़ूरी की ज़रूरत पड़ेगी। वन संपदा के उपयोग संबंधी नियम तय करने पड़ेंगे। पेड़ों की कटाई और पशुओं को चराने जैसी गतिविधियों पर पाबंदी लगा कर ही जंगलों को लकड़ी उत्पादन के लिए आरक्षित किया जा सकेगा। इस तंत्र की अवमानना करके पेड़ काटने वाले

क्रियाकलाप

यदि 1862 में भारत सरकार की बागडोर आपके हाथ में होती और आप पर इतने व्यापक पैमाने पर रेलों के लिए स्लीपर और ईंधन आपूर्ति की ज़िम्मेवारी होती तो आप इसके लिए कौन-कौन से कदम उठाते?

चित्र 9 – इटली स्थित टस्कनी में पोपलर के जंगल का एक व्यवस्थित गलियारा.
पोपलर के जंगल मुख्यतः लकड़ी के लिए महत्त्व रखते हैं। पत्तों, फलों या दूसरे उत्पादों के लिए ये उपयोगी नहीं हैं। एक समान लंबाई वाले और सीध में लगे इन पेड़ों को देखें। यही वह मॉडल है जिसे 'वैज्ञानिक' वानिकी ने प्रोत्साहित किया।

चित्र 10 - काँगड़ा का एक देवदार बागान, 1933.
इंडियन फ़ारेस्ट रिकॉर्डस्, भाग XV से ।

किसी भी व्यक्ति को सज़ा का भागी बनना होगा। इस तरह ब्रैंडिस ने 1864 में भारतीय वन सेवा की स्थापना की और 1865 के भारतीय वन अधिनियम को सूत्रबद्ध करने में सहयोग दिया। इम्पीरियल फ़ॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना 1906 में देहरादून में हुई। यहाँ जिस पद्धति की शिक्षा दी जाती थी उसे **'वैज्ञानिक वानिकी'** (साइंटिफ़िक फ़ॉरेस्ट्री) कहा गया। लेकिन आज पारिस्थितिकी विशेषज्ञों सहित ज़्यादातर लोग मानते हैं कि यह पद्धति कतई वैज्ञानिक नहीं है।

वैज्ञानिक वानिकी के नाम पर विविध प्रजाति वाले प्राकृतिक वनों को काट डाला गया। इनकी जगह सीधी पंक्ति में एक ही किस्म के पेड़ लगा दिए गए। इसे बागान कहा जाता है। वन विभाग के अधिकारियों ने जंगलों का सर्वेक्षण किया, विभिन्न किस्म के पेड़ों वाले क्षेत्र की नाप-जोख की और वन-प्रबंधन के लिए योजनाएँ बनायीं। उन्होंने यह भी तय किया कि बागान का कितना क्षेत्र प्रतिवर्ष काटा जाएगा। कटाई के बाद खाली ज़मीन पर पुनः पेड़ लगाए जाने थे ताकि कुछ ही वर्षों में यह क्षेत्र पुनः कटाई के लिए तैयार हो जाए।

1865 में वन अधिनियम के लागू होने के बाद इसमें दो बार संशोधन किए गए - पहले 1878 में और फिर 1927 में। 1878 वाले अधिनियम में जंगलों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया : आरक्षित, सुरक्षित व ग्रामीण। सबसे अच्छे जंगलों को 'आरक्षित वन' कहा गया। गाँव वाले इन जंगलों से अपने उपयोग के लिए कुछ भी नहीं ले सकते थे। वे घर बनाने या ईंधन के लिए केवल सुरक्षित या ग्रामीण वनों से ही लकड़ी ले सकते थे।

चित्र 11 - दि इम्पीरियल फ़ॉरेस्ट स्कूल देहरादून, भारत.
ब्रिटिश साम्राज्य में खुला पहला वानिकी स्कूल।
स्रोत: इंडियन फ़ॉरेस्टर, *खण्ड XXXI.*

नया शब्द

वैज्ञानिक वानिकी : वन विभाग द्वारा पेड़ों की कटाई जिसमें पुराने पेड़ काट कर उनकी जगह नए पेड़ लगाए जाते हैं।

2.1 लोगों का जीवन कैसे प्रभावित हुआ?

एक अच्छा जंगल कैसा होना चाहिए इसके बारे में वनपालों और ग्रामीणों के विचार बहुत अलग थे। जहाँ एक तरफ ग्रामीण अपनी अलग-अलग ज़रूरतों,

चित्र 12 - जंगलों से महुआ (Madhuca Indica) बीनना.
गाँव वाले उजाला होने के पहले ही उठकर जमीन पर गिरे हुए महुआ के फूलों को बीनने के लिए जंगल चले जाते। महुआ के पेड़ बेशकीमती हैं। महुआ के फूल खाए भी जा सकते हैं और इनका इस्तेमाल शराब बनाने के लिए भी किया जा सकता है। इसके बीजों से तेल भी बनाया जाता है।

जैसे ईंधन, चारे व पत्तों की पूर्ति के लिए वन में विभिन्न प्रजातियों का मेल चाहते थे, वहीं वन-विभाग को ऐसे पेड़ों की ज़रूरत थी जो जहाज़ों और रेलवे के लिए इमारती लकड़ी मुहैया करा सकें, ऐसी लकड़ियाँ जो सख्त, लंबी और सीधी हों। इसलिए सागौन और साल जैसी प्रजातियों को प्रोत्साहित किया गया और दूसरी किस्में काट डाली गईं।

वन्य इलाकों में लोग कंद-मूल-फल, पत्ते आदि वन-उत्पादों का विभिन्न ज़रूरतों के लिए उपयोग करते हैं। फल और कंद अत्यंत पोषक खाद्य हैं, विशेषकर मॉनसून के दौरान जब फ़सल कट कर घर न आयी हो। दवाओं के लिए जड़ी-बूटियों का इस्तेमाल होता है, लकड़ी का प्रयोग हल जैसे खेती के औज़ार बनाने में किया जाता है, बाँस से बेहतरीन बाड़ें बनायी जा सकती हैं और इसका उपयोग छतरी तथा टोकरी बनाने के लिए भी किया जा सकता है। सूखे हुए कुम्हड़े के खोल का प्रयोग पानी की बोतल के रूप में किया जा सकता है। जंगलों में लगभग सब कुछ उपलब्ध है - पत्तों को जोड़-जोड़ कर 'खाओ-फेंको' किस्म के पत्तल और दोने बनाए जा सकते हैं, *सियादी (Bauhiria vahili)* की लताओं से रस्सी बनायी जा सकती है, सेमूर (सूती रेशम) की काँटेदार छाल पर सब्ज़ियाँ छीली जा सकती हैं, महुए के पेड़ से खाना पकाने और रोशनी के लिए तेल निकाला जा सकता है।

चित्र 13 - सूखते हुए तेंदू-पत्ते.
जंगलों में रहने वाले बहुत सारे लोगों के लिए तेंदू के पत्तों की बिक्री आय का एक प्रमुख साधन है। प्रत्येक बंडल में लगभग 50 पत्ते होते हैं। एक व्यक्ति कठिन परिश्रम करके एक दिन में ज़्यादा से ज़्यादा 100 बंडल इकट्ठा कर सकता है। बच्चे, महिलाएँ और वृद्ध ही मुख्यत: पत्ते इकट्ठे करते हैं।

चित्र 14 - खलिहानों से अनाज लाते हुए.
खलिहानों से पुरुष टोकरियों में अनाज ला रहे हैं। पुरुष अपने कंधों के आर-पार एक छड़ी में बंधी टोकरियों को लाते हैं जबकि औरतें इन टोकरियों को अपने सिर पर रख कर लाती हैं।

वन अधिनियम के चलते देश भर में गाँव वालों की मुश्किलें बढ़ गईं। इस कानून के बाद घर के लिए लकड़ी काटना, पशुओं को चराना, कंद-मूल-फल इकट्ठा करना आदि रोज़मर्रा की गतिविधियाँ गैरकानूनी बन गईं। अब उनके पास जंगलों से लकड़ी चुराने के अलावा कोई चारा नहीं बचा और पकड़े जाने की स्थिति में वे वन-रक्षकों की दया पर होते जो उनसे घूस ऐंठते थे। जलावनी लकड़ी एकत्र करने वाली औरतें विशेष तौर से परेशान रहने लगीं। मुफ़्त खाने-पीने की मांग करके लोगों को तंग करना पुलिस और जंगल के चौकीदारों के लिए सामान्य बात थी।

क्रियाकलाप

वन-प्रदेशों में रहने वाले बच्चे पेड़-पौधों की सैकड़ों प्रजातियों के नाम बता सकते हैं। आप पेड़-पौधों की कितनी प्रजातियों के नाम जानते हैं?

2.2 वनों के नियमन से खेती कैसे प्रभावित हुई?

यूरोपीय उपनिवेशवाद का सबसे गहरा प्रभाव झूम या घुमंतू खेती की प्रथा पर दिखायी पड़ता है। एशिया, अफ़्रीका व दक्षिण अमेरिका के अनेक भागों में यह खेती का एक परंपरागत तरीका है। इसके कई स्थानीय नाम हैं जैसे - दक्षिण-पूर्व एशिया में *लादिंग*, मध्य अमेरिका में *मिलपा*, अफ़्रीका में *चितमेन* या *तावी* व श्रीलंका में *चेना*। हिंदुस्तान में घुमंतू खेती के लिए *धया, पेंदा, बेवर, नेवड़, झूम, पोड़ू, खंदाद* और *कुमरी* ऐसे ही कुछ स्थानीय नाम हैं।

घुमंतू कृषि के लिए जंगल के कुछ भागों को बारी-बारी से काटा और जलाया जाता है। मॉनसून की पहली बारिश के बाद इस राख में बीज बो दिए जाते हैं और अक्तूबर-नवंबर में फ़सल काटी जाती है। इन खेतों पर दो-एक साल खेती करने के बाद इन्हें 12 से 18 साल तक के लिए परती छोड़ दिया जाता है जिससे वहाँ फिर से जंगल पनप जाए। इन भूखंडों में मिश्रित फ़सलें उगायी जाती हैं जैसे मध्य भारत और अफ़्रीका में ज्वार-बाजरा, ब्राज़ील में कसावा और लैटिन अमेरिका के अन्य भागों में मक्का व फलियाँ।

यूरोपीय वन रक्षकों की नज़र में यह तरीका जंगलों के लिए नुकसानदेह था। उन्होंने महसूस किया कि जहाँ कुछेक सालों के अंतर पर खेती की जा रही हो ऐसी ज़मीन पर रेलवे के लिए इमारती लकड़ी वाले पेड़ नहीं उगाए

चित्र 15 - टौंग्या खेती एक ऐसी व्यवस्था थी जहाँ किसानों को कुछ समय के लिए बागानों में ही खेती करने की आज़ादी थी। 1921 में बर्मा के थर्रावाड़ी डिवीज़न से लिए गए इस चित्र में किसान धान बो रहे हैं। लोहे के छोर वाले लंबे बाँसों की सहायता से पुरुष धरती में छेद बनाते थे। औरतें प्रत्येक छेद में धान बोती थीं।

चित्र 16 – जंगल के पेंदा या पोदू हिस्सों को जलाना.
घुमंतू खेती में जंगलों को साफ़ किया जाता है। सामान्यतः चट्टानों की ढलानों पर पेड़ों को काटने के बाद राख के लिए इन्हें जला दिया जाता है। इसके बाद इस क्षेत्र में फिर बीज बिखेर दिए जाते हैं और वर्षा से सिंचाई के लिए इन्हें छोड़ दिया जाता है।

जा सकते। साथ ही, जंगल जलाते समय बाकी बेशकीमती पेड़ों के भी फैलती लपटों की चपेट में आ जाने का खतरा बना रहता है। घुमंतू खेती के कारण सरकार के लिए लगान का हिसाब रखना भी मुश्किल था। इसलिए सरकार ने घुमंतू खेती पर रोक लगाने का फैसला किया। इसके परिणामस्वरूप अनेक समुदायों को जंगलों में उनके घरों से जबरन विस्थापित कर दिया गया। कुछ को अपना पेशा बदलना पड़ा तो कुछ ने छोटे-बड़े विद्रोहों के ज़रिए प्रतिरोध किया।

2.3 शिकार की आज़ादी किसे थी?

जंगल संबंधी नए कानूनों ने वनवासियों के जीवन को एक और तरह से प्रभावित किया। वन कानूनों के पहले जंगलों में या उनके आसपास रहने वाले बहुत सारे लोग हिरन, तीतर जैसे छोटे-मोटे शिकार करके जीवनयापन करते थे। यह पारंपरिक प्रथा अब गैर-कानूनी हो गयी। शिकार करते हुए पकड़े जाने वालों को अवैध शिकार के लिए दंडित किया जाने लगा।

जहाँ एक तरफ़ वन कानूनों ने लोगों को शिकार के परंपरागत अधिकार से वंचित किया, वहीं बड़े जानवरों का आखेट एक खेल बन गया। हिंदुस्तान में बाघों और दूसरे जानवरों का शिकार करना सदियों से दरबारी और नवाबी संस्कृति का हिस्सा रहा था। अनेक मुगल कलाकृतियों में शहज़ादों और सम्राटों को शिकार का मज़ा लेते हुए दिखाया गया है। किंतु औपनिवेशिक शासन के दौरान शिकार का चलन इस पैमाने तक बढ़ा कि कई प्रजातियाँ

चित्र 17 – मछली मारने वाला लड़का.
बच्चे अपने माँ-बाप के साथ जंगल जाते हैं और बहुत जल्द ही वे मछली पकड़ना, वन-उत्पादों को इकट्ठा करना व खेती करना सीख लेते हैं। बाँस के ट्रैप को, जिसे यह लड़का अपने बाएँ हाथ में पकड़े है, बहाव के मुहाने पर रखने पर मछली इसमें चली आती है।

चित्र 18 – नेपाल में शिकार के बाद लॉर्ड रीडिंग.
फ़ोटो में मृत बाघों की गिनती करें। ब्रिटिश औपनिवेशिक अफ़सर और राजा जब शिकार के लिए जाते तब उनके साथ नौकरों की एक पूरी फ़ौज होती थी। गाँव के कुशल शिकारी हाँका लगाते थे और साहब को बस गोली भर चलाना होता था ।

लगभग पूरी तरह लुप्त हो गई। अंग्रेज़ों की नज़र में बड़े जानवर जंगली, बर्बर और आदि समाज के प्रतीक-चिह्न थे। उनका मानना था कि खतरनाक जानवरों को मार कर वे हिन्दुस्तान को सभ्य बनाएँगे। बाघ, भेड़िये और दूसरे बड़े जानवरों के शिकार पर यह कह कर इनाम दिए गए कि इनसे किसानों को खतरा है। 1875 से 1925 के बीच इनाम के लालच में 80,000 से ज़्यादा बाघ, 1,50,000 तेंदुए और 2,00,000 भेड़िये मार गिराए गए। धीरे-धीरे बाघ के शिकार को एक खेल की ट्रॉफ़ी के रूप में देखा जाने लगा। अकेले जॉर्ज यूल नामक अंग्रेज़ अफ़सर ने 400 बाघों को मारा था। प्रारंभ में जंगल के कुछ इलाके शिकार के लिए ही आरक्षित थे। काफ़ी समय बाद पर्यावरणविदों और संरक्षणवादियों ने आवाज़ उठाई कि जानवरों की इन सारी प्रजातियों की सुरक्षा होनी चाहिए न कि इनको मारा जाना चाहिए।

2.4 नए व्यापार, नए रोज़गार और नई सेवाएँ

जंगलों पर वन विभाग का नियंत्रण स्थापित हो जाने से लोगों को कई तरह के नुकसान हुए, लेकिन कुछ लोगों को व्यापार के नए अवसरों का लाभ भी मिला। कई समुदाय अपने परंपरागत पेशे छोड़ कर वन-उत्पादों का व्यापार करने लगे। महज़ हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि दुनिया भर में कुछ ऐसा

स्रोत ग

बैगा मध्य भारत का एक वन समुदाय है। 1892 में जब उनकी घुमंतू खेती पर रोक लगा दी गयी तब उन्होंने सरकार को यह याचिका दी:

'हर रोज़ हम फ़ाका करते हैं, क्योंकि हमारे पास खाने का अनाज नहीं है। हमारे पास सिर्फ़ एक ही दौलत है और वह है हमारी कुल्हाड़ी। हमारे पास अपने तन ढकने को कपड़े नहीं हैं। आग ताप कर हम ठंडी रातें गुज़ारते हैं। हम अब खाने के लिए मर रहे हैं। हम कहीं जा भी नहीं सकते हैं। हमने ऐसी क्या गलती की है कि सरकार हमारी परवाह नहीं करती? कैदियों को जेलों में पर्याप्त भोजन दिया जाता है। घास उगाने वालों को भी उनकी ज़मीन से बेदखल नहीं किया जाता है, लेकिन हम जो यहाँ कई पीढ़ियों से रहते आए हैं, हमें सरकार हमारा अधिकार नहीं देती।'

वेरियर एल्विन (1939); माधव गाडगिल व रामचन्द्र गुहा, *'दिस फ़िशर्ड लैंड: एन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया'* में उद्धृत।

ही नज़ारा दिखता है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं सदी के मध्य में ऊँची जगहों पर रह कर मैनियोक उगाने वाले ब्राज़ीली ऐमेज़ॉन के मुनदुरुकु समुदाय के लोगों ने व्यापारियों को रबड़ की आपूर्ति के लिए जंगली रबड़ के वृक्षों से 'लेटेक्स' एकत्र करना प्रारंभ कर दिया। कालांतर में वे व्यापार चौकियों की ओर नीचे उतर आए और पूरी तरह व्यापारियों पर निर्भर हो गए।

हिंदुस्तान में वन-उत्पादों का व्यापार कोई अनोखी बात नहीं थी। मध्यकाल से ही आदिवासी समुदायों द्वारा बंजारा आदि घुमंतू समुदायों के माध्यम से हाथियों और दूसरे सामान जैसे खाल, सींग, रेशम के कोये, हाथी-दाँत, बाँस, मसाले, रेशे, घास, गोंद और राल के व्यापार के सबूत मिलते हैं।

लेकिन अंग्रेज़ों के आने के बाद व्यापार पूरी तरह सरकारी नियंत्रण में चला गया। ब्रिटिश सरकार ने कई बड़ी यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को विशेष इलाकों में वन-उत्पादों के व्यापार की **इजारेदारी** सौंप दी। स्थानीय लोगों द्वारा शिकार करने और पशुओं को चराने पर बंदिशें लगा दी गईं। इस प्रक्रिया में मद्रास प्रेसीडेंसी के कोरावा, कराचा व येरुकुला जैसे अनेक चरवाहे और घुमंतू समुदाय अपनी जीविका से हाथ धो बैठे। इनमें से कुछ को 'अपराधी कबीले' कहा जाने लगा और ये सरकार की निगरानी में फ़ैक्ट्रियों, खदानों व बागानों में काम करने को मजबूर हो गए।

काम के नए अवसरों का मतलब यह नहीं था कि उनकी जीवन स्थिति में हमेशा सुधार ही हुआ हो। असम के चाय बागानों में काम करने के लिए झारखंड के संथाल और उराँव व छत्तीसगढ़ के गोंड जैसे आदिवासी मर्द व औरतों, दोनों की भर्ती की गयी। उनकी मज़दूरी बहुत कम थी और कार्यपरिस्थितियाँ उतनी ही खराब। उन्हें उनके गाँवों से उठा कर भर्ती तो कर लिया गया था लेकिन उनकी वापसी आसान नहीं थी।

नया शब्द

इजारेदारी: एकाधिकार।

स्रोत घ

पुतुमायो में रबड़ की निकासी

दुनिया भर में, बागानों में काम की स्थितियाँ भयावह थीं। ऐमेज़ॉन के पुटुमायो क्षेत्र में 'पेरूवियन रबड़ कंपनी' (ब्रिटिश व पेरूवियन साझे में) द्वारा रबड़ की निकासी हुईतोतोस कहे जाने वाले स्थानीय इंडियनों की बेगार पर निर्भर थी। 1900-1912 के बीच पुटुमायो में 4,000 टन रबड़ का उत्पादन हुआ और इसी दौरान इंडियन आबादी में यंत्रणा, रोगों और पलायन के चलते 30,000 की गिरावट आयी। रबड़ कंपनी के एक वेतनभोगी ने वर्णन किया है कि रबड़ का संग्रह कैसे किया जाता था। मैनेजर ने सैकड़ों इंडियनों को स्टेशन पर उपस्थित होने का निर्देश दिया:

उसने अपनी कार्बाइन और छुरा पकड़ा और इन बेबस इंडियनों का कत्लेआम शुरू कर दिया। थोड़ी ही देर में बच्चों, महिलाओं और पुरुषों की 150 लाशों से ज़मीन ढक गयी। खून से नहाए हुए, दया की भीख माँगते ज़िंदा बचे लोगों को मुर्दों के ढेर के साथ जला दिया गया और मैनेजर चिल्लाया, "मैं उन सभी इंडियनों को खत्म कर देना चाहता हूँ जो रबड़ लाने के लिए दिए गए मेरे आदेश को नहीं मानते हैं।"

निकोलस डर्क्स (सं.) *कॉलोनियलिज़्म ऐन्ड कल्चर* (1992) में माइकेल ताउसिग, 'कल्चर ऑफ़ टेरर-स्पेस ऑफ़ डैथ'।

स्रोत

3 वन-विद्रोह

हिंदुस्तान और दुनिया भर में वन्य समुदायों ने अपने ऊपर थोपे गए बदलावों के खिलाफ़ बगावत की। संथाल परगना में सीधू और कानू, छोटा नागपुर में बिरसा मुंडा और आंध्र प्रदेश में अल्लूरी सीताराम राजू को लोकगीतों और कथाओं में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ उभरे आंदोलनों के नायक के रूप में आज भी याद किया जाता है। अब हम बस्तर रियासत में 1910 में हुए ऐसे ही एक विद्रोह का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

3.1 बस्तर के लोग

बस्तर छत्तीसगढ़ के सबसे दक्षिणी छोर पर आंध्र प्रदेश, उड़ीसा व महाराष्ट्र की सीमाओं से लगा हुआ क्षेत्र है। बस्तर का केंद्रीय भाग पठारी है। इस पठार के उत्तर में छत्तीसगढ़ का मैदान और दक्षिण में गोदावरी का मैदान है। इन्द्रावती नदी बस्तर के आर-पार पूरब से पश्चिम की तरफ़ बहती है। बस्तर में मरिया और मुरिया गोंड, धुरवा, भतरा, हलबा आदि अनेक आदिवासी समुदाय रहते हैं। अलग-अलग ज़बानें बोलने के बावजूद इनके रीति-रिवाज और विश्वास एक जैसे हैं। बस्तर के लोग मानते हैं कि हरेक गाँव को उसकी ज़मीन 'धरती माँ' से मिली है और बदले में वे प्रत्येक खेतिहर त्योहार पर धरती को चढ़ावा चढ़ाते हैं। धरती के अलावा वे नदी, जंगल व पहाड़ों की आत्मा को भी उतना ही मानते हैं। चूँकि हर गाँव को अपनी चौहद्दी पता होती है इसलिए ये लोग इन सीमाओं के भीतर समस्त प्राकृतिक संपदाओं की देखभाल करते हैं। यदि एक गाँव के लोग दूसरे गाँव के जंगल

चित्र 19 - बस्तर में सेना का कैंप 1910.
बस्तर में सेना के एक कैंप का यह चित्र 1910 में लिया गया। सेना तंबुओं, बावर्चियों और सिपाहियों के साथ चलती थी। यहाँ एक सिपाही विद्रोहियों से सुरक्षा के लिए कैंप की पहरेदारी कर रहा है।

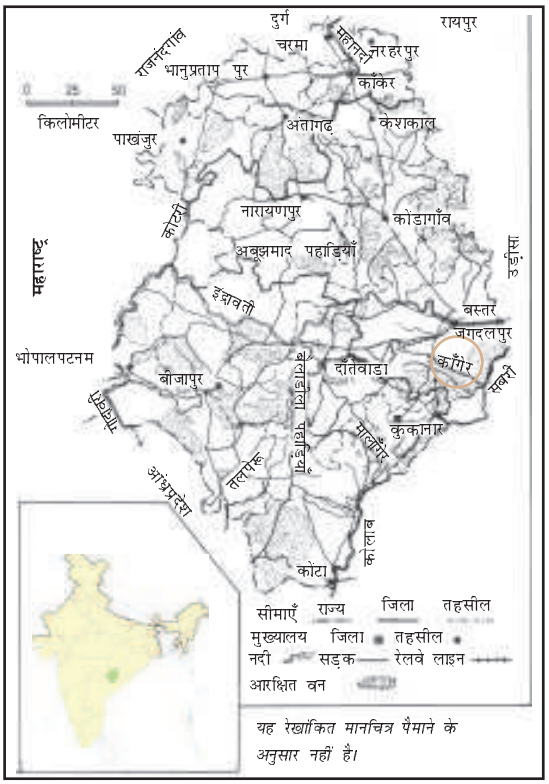

चित्र 20 - सन् 2000 में बस्तर.
1947 में बस्तर रियासत को काँकेर रियासत में मिला दिया गया और यह पूरा क्षेत्र मध्य प्रदेश का बस्तर जिला बना। 1998 में इस जिले को एक बार फिर काँकेर, बस्तर और दांतेवाड़ा जिलों में बाँट दिया गया। 2000 में ये जिले छत्तीसगढ़ का हिस्सा बन गए। 1990 का विद्रोह काँकेर वन क्षेत्र (घेरे में) से ही शुरू हुआ था और जल्दी ही राज्य के अन्य क्षेत्रों में फैल गया।

से थोड़ी लकड़ी लेना चाहते हैं तो इसके बदले में वे एक छोटा शुल्क अदा करते हैं जिसे *देवसारी, दांड़* या *मान* कहा जाता है। कुछ गाँव अपने जंगलों की हिफ़ाज़त के लिए चौकीदार रखते हैं जिन्हें वेतन के रूप में हर घर से थोड़ा-थोड़ा अनाज दिया जाता है। हर वर्ष एक बड़ी सभा का आयोजन होता है जहाँ एक परगने (गाँवों का समूह) के गाँवों के मुखिया जुटते हैं और जंगल सहित तमाम दूसरे अहम मुद्दों पर चर्चा करते हैं।

3.2 लोगों के भय

औपनिवेशिक सरकार ने 1905 में जब जंगल के दो-तिहाई हिस्से को आरक्षित करने, घुमंतू खेती को रोकने और शिकार व वन्य-उत्पादों के संग्रह पर पाबंदी लगाने जैसे प्रस्ताव रखे तो बस्तर के लोग बहुत परेशान हो गए। कुछ गाँवों को आरक्षित वनों में इस शर्त पर रहने दिया गया कि वे वन-विभाग के लिए पेड़ों की कटाई और ढुलाई का काम मुफ्त करेंगे और जंगल को आग से बचाए रखेंगे। बाद में इन्हीं गाँवों को 'वन ग्राम' कहा जाने लगा। बाकी गाँवों के लोग बगैर किसी सूचना या मुआवज़े के हटा दिए गए। काफ़ी समय से गाँव वाले ज़मीन के बढ़े हुए लगान तथा औपनिवेशिक अफ़सरों के हाथों बेगार और चीज़ों की निरंतर माँग से त्रस्त थे। इसके बाद भयानक अकाल का दौर आया : पहले 1899-1900 में और फिर 1907-1908 में। वन आरक्षण ने चिंगारी का काम किया।

लोगों ने बाज़ारों में, त्योहारों के मौके पर और जहाँ कहीं भी कई गाँवों के मुखिया और पुजारी इकट्ठा होते थे वहाँ जमा होकर इन मुद्दों पर चर्चा करना प्रारंभ कर दिया। काँगेर वनों के धुरवा समुदाय के लोग इस मुहिम में सबसे आगे थे क्योंकि आरक्षण सबसे पहले यहीं लागू हुआ था। हालाँकि कोई एक व्यक्ति इनका नेता नहीं था लेकिन बहुत सारे लोग नेथानार गाँव के गुंडा धूर को इस आंदोलन की एक अहम शख्सियत मानते हैं। 1910 में आम की टहनियाँ, मिट्टी के ढेले, मिर्च और तीर गाँव-गाँव चक्कर काटने लगे। यह गाँवों में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बगावत का संदेश था। हरेक गाँव ने इस बगावत के खर्चे में कुछ न कुछ मदद दी। बाज़ार लूटे गए, अफ़सरों और व्यापारियों के घर, स्कूल और पुलिस थानों को लूटा व जलाया गया तथा अनाज का पुनर्वितरण किया गया। जिन पर हमले हुए उनमें से ज़्यादातर लोग औपनिवेशिक राज्य और इसके दमनकारी कानूनों से किसी न किसी तरह जुड़े थे। इन घटनाओं के एक चश्मदीद गवाह, मिशनरी विलियम वार्ड ने लिखा : 'पुलिसवालों, व्यापारियों, जंगल के अर्दलियों, स्कूल मास्टरों और प्रवासियों का हुजूम चारों तरफ़ से जगदलपुर में चला आ रहा था।'

अंग्रेज़ों ने बगावत को कुचल देने के लिए सैनिक भेजे। आदिवासी नेताओं ने बातचीत करनी चाही लेकिन अंग्रेज़ फ़ौज ने उनके तंबुओं को घेर कर उन पर गोलियाँ चला दीं। इसके बाद बगावत में शरीक लोगों पर कोड़े बरसाते और उन्हें सज़ा देते सैनिक गाँव-गाँव घूमने लगे। ज़्यादातर गाँव खाली हो गए क्योंकि लोग भाग कर जंगलों में चले गए थे। अंग्रेज़ों को फिर

स्रोत च

'भोंडिया ने 400 लोगों को इकट्ठा कर कई सारे बकरों की कुर्बानी दी और दीवान, जिसके बीजापुर की तरफ़ से आने की संभावना थी, को बीच में ही रोकने के लिए चल पड़ा। 10 फ़रवरी को चली इस भीड़ ने पुलिस-चौकी तथा मारेंगा स्कूल जला दिया, केसलुर में लाईनें व पशु-अवरोधशाला और टोकापाल (राजुर) में भी एक स्कूल को जलाया गया। दीवान को सुरक्षित वापस लाने के लिए भेजे गए स्टेट रिज़र्व पुलिस के एक हेड कांस्टेबल और चार कांस्टेबलों को बंधक बना लिया गया और एक दस्ता करंजी स्कूल जलाने के लिए छोड़ दिया गया। इस भीड़ ने गार्डो के साथ कोई बदसलूकी करने के बजाय उनके हथियार उनसे ले लिए और उन्हें छोड़ दिया। भोंडिया माझी के नेतृत्व में बागियों के एक दल ने कोयर नदी का रास्ता लिया क्योंकि दीवान मुख्य सड़क छोड़कर उधर से आ सकता था। बाकी लोग बीजापुर से आने वाली मुख्य सड़क को बंद करने के लिए दिलमिल्ली चले गए। बुद्धू माझी और हरचंद नाईक ने मुख्य दल की कमान सँभाली।'

डेब्रेट, पोलिटिकल एजेन्ट, छत्तीसगढ़ फ़्यूडेटरी स्टेट्स, का 23 जून, 1910 को कमिश्नर, छत्तीसगढ़ डिवीज़न, के नाम लिखा पत्र।

स्रोत छ

बस्तर में रहने वाले बुज़ुर्ग इस लड़ाई के बारे में, जिसे उन्होंने अपने माता-पिता से सुना था, बताते हैं :

कनकापाल के पोदियामी गंगा को उनके पिता पोदियामी तोकेली ने बताया कि:

'अंग्रेज़ों ने आकर ज़मीन लेनी शुरू कर दी। राजा को आसपास क्या हो रहा है इसकी परवाह न थी, इसलिए ज़मीन ली जा रही है, यह देख उसके समर्थकों ने लोगों को इकट्ठा किया। लड़ाई शुरू हुई। उसके कट्टर समर्थक मारे गए और बाकियों पर कोड़ों से मार पड़ी। मेरे पिता, पोदियामी तोकेली को भी कोड़ों से पीटा गया। लेकिन वह भागने में कामयाब हुए और बच निकले। यह आंदोलन अंग्रेज़ों से छुटकारा पाने के लिए था। अंग्रेज़ उनको घोड़ों से बाँध कर घसीटा करते थे। हरेक गाँव से दो-चार लोग जगदलपुर गए -- चिदपाल के गार्गी देवा और मिखोला, माकी-मिरास के दोल और अबराबुंदी, बालेरास का वादापांदु, पालेम का उंगा और दूसरे ढेर सारे लोग।'

इसी तरह से नंदरासा के एक बुज़ुर्ग चेंद्रू ने कहा कि :

'लोगों की तरफ़ पुरनिया थे — पालेम के मिल्ले मुदाल, नंदरासा के सोयेकाल धुर्वा और पंडवा माझी। हर परगना से लोग अलनार तराई इकट्ठा हुए। एक झटके में पलटन ने सबको घेर लिया। गुंडा धूर उड़ सकते थे इसलिए उड़ निकले। लेकिन तीर-कमान वाले अब क्या करें? रात में लड़ाई होने लगी। लोग झाड़ियों में छिप कर पेट के बल भागे। फ़ौज की पलटन भी भागी। जो लोग ज़िंदा बचे किसी तरह अपने गाँव-घर पहुँचे।'

स्रोत

से नियंत्रण पाने में तीन महीने (फ़रवरी-मई) लग गए। फिर भी वे गुंडा धूर को कभी नहीं पकड़ सके। विद्रोहियों की सबसे बड़ी जीत यह रही कि आरक्षण का काम कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया और आरक्षित क्षेत्र को भी 1910 से पहले की योजना से लगभग आधा कर दिया गया।

बस्तर के जंगलों और लोगों की कहानी यहीं खत्म नहीं होती। आज़ादी के बाद भी लोगों को जंगलों से बाहर रखने और जंगलों को औद्योगिक उपयोग के लिए आरक्षित रखने की नीति कायम रही। 1970 के दशक में, विश्व बैंक ने प्रस्ताव रखा कि कागज़ उद्योग को लुगदी उपलब्ध कराने के लिए 4,600 हेक्टेयर प्राकृतिक साल वनों की जगह देवदार के पेड़ लगाए जाएँ। लेकिन, स्थानीय पर्यावरणविदों के विरोध के फलस्वरूप इस परियोजना को रोक दिया गया।

आइए, अब एशिया के एक और हिस्से - इंडोनेशिया - की तरफ चलें। ज़रा देखें कि इसी वक्त वहाँ क्या कुछ हो रहा था।

4 जावा के जंगलों में हुए बदलाव

जावा को आजकल इंडोनेशिया के चावल-उत्पादक द्वीप के रूप में जाना जाता है। लेकिन एक ज़माने में यह क्षेत्र अधिकांशतः वनाच्छादित था। इंडोनेशिया एक डच उपनिवेश था और जैसा कि हम देखेंगे, भारत व इंडोनेशिया के वन कानूनों में कई समानताएँ थीं। इंडोनेशिया में जावा ही वह क्षेत्र है जहाँ डचों ने वन-प्रबंधन की शुरुआत की थी। अंग्रेज़ों की तरह वे भी जहाज़ बनाने के लिए जावा से लकड़ी हासिल करना चाहते थे। सन् 1600 में जावा की अनुमानित आबादी 34 लाख थी। हालाँकि उपजाऊ मैदानों में ढेर सारे गाँव थे लेकिन पहाड़ों में भी घुमंतू खेती करने वाले अनेक समुदाय रहते थे।

4.1 जावा के लकड़हारे

जावा में कलांग समुदाय के लोग कुशल लकड़हारे और घुमंतू किसान थे। उनका महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि 1755 में जब जावा की माताराम रियासत बँटी तो यहाँ के 6,000 कलांग परिवारों को भी दोनों राज्यों में बराबर-बराबर बाँट दिया गया। उनके कौशल के बगैर सागौन की कटाई कर राजाओं के महल बनाना बहुत मुश्किल था। डचों ने जब अठारहवीं सदी में वनों पर नियंत्रण स्थापित करना प्रारंभ किया तब उन्होंने भी कोशिश की कि कलांग उनके लिए काम करें। 1770 में कलांगों ने एक डच किले पर हमला करके इसका प्रतिरोध किया लेकिन इस विद्रोह को दबा दिया गया।

4.2 डच वैज्ञानिक वानिकी

उन्नीसवीं सदी में जब लोगों के साथ-साथ इलाकों पर भी नियंत्रण स्थापित करना ज़रूरी लगने लगा तो डच उपनिवेशकों ने जावा में वन-कानून लागू कर ग्रामीणों की जंगल तक पहुँच पर बंदिशें थोप दीं। इसके बाद नाव या घर बनाने जैसे खास उद्देश्यों के लिए, सिर्फ़ चुने हुए जंगलों से लकड़ी काटी जा सकती थी और वह भी कड़ी निगरानी में। ग्रामीणों को मवेशी चराने, बिना परमिट लकड़ी ढोने या जंगल से गुज़रने वाली सड़क पर घोड़ा-गाड़ी अथवा जानवरों पर चढ़ कर आने-जाने के लिए दंडित किया जाने लगा।

भारत की ही तरह यहाँ भी जहाज़ और रेल-लाइनों के निर्माण ने वन-प्रबंधन और वन-सेवाओं को लागू करने की आवश्यकता पैदा कर दी। 1882 में अकेले जावा से ही 2,80,000 स्लीपरों का निर्यात किया गया। ज़ाहिर है कि पेड़ काटने, लट्ठों को ढोने और स्लीपर

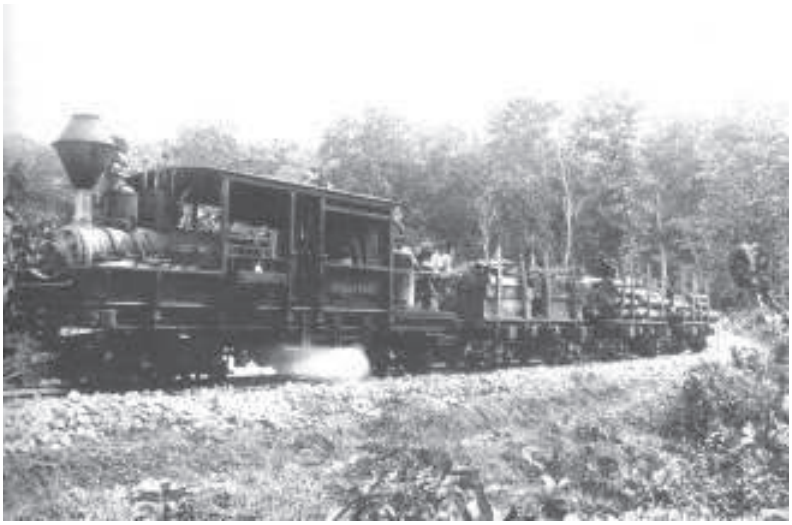

चित्र 21 - जंगल से सागौन की लकड़ी ले जाती मालगाड़ी, औपनिवेशिक शासन का अंतिम दौर.

तैयार करने के लिए श्रम की आवश्यकता थी। डचों ने पहले तो जंगलों में खेती की ज़मीनों पर लगान लगा दिया और बाद में कुछ गाँवों को इस शर्त पर इससे मुक्त कर दिया कि वे सामूहिक रूप से पेड़ काटने और लकड़ी ढोने के लिए भैंसें उपलब्ध कराने का काम मुफ्त में किया करेंगे। इस व्यवस्था को *ब्लैन्डाँगडिएन्स्टेन* के नाम से जाना गया। बाद में वन-ग्रामवासियों को लगान-माफ़ी के बजाय थोड़ा-बहुत मेहनताना तो दिया जाने लगा लेकिन वन-भूमि पर खेती करने के उनके अधिकार सीमित कर दिए गए।

4.3 सामिन की चुनौती

सन् 1890 के आसपास सागौन के जंगलों में स्थित रान्दुब्लातुंग गाँव के निवासी सुरोन्तिको सामिन ने जंगलों पर राजकीय मालिकाने पर सवाल खड़ा करना प्रारंभ कर दिया। उसका तर्क था कि चूँकि हवा, पानी, ज़मीन और लकड़ी राज्य की बनायी हुई नहीं हैं इसलिए उन पर उसका अधिकार नहीं हो सकता। जल्दी ही एक व्यापक आंदोलन खड़ा हो गया। इस आंदोलन को संगठित करने वालों में सामिन का दामाद भी सक्रिय था। 1907 तक 3,000 परिवार उसके विचारों को मानने लगे थे। डच जब ज़मीन का सर्वेक्षण करने आए तो कुछ सामिनवादियों ने अपनी ज़मीन पर लेट कर इसका विरोध किया जबकि दूसरों ने लगान या जुर्माना भरने या बेगार करने से इनकार कर दिया।

स्रोत ज

यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कंपनी के एक अफ़सर डर्क वॉन होज़ेनड्राप ने उपनिवेश कालीन जावा में कहा था:
'बटाविया के लोगो! चौंक पड़ो। आश्चर्य से सुनो, मुझे जो तुम्हें बताना है। हमारे बेड़े नष्ट हो चुके हैं, हमारा व्यापार मुरझा चुका है, हमारा नौकायन नष्ट होने वाला है- उत्तरी ताकतों से हम बेपनाह दौलत देकर जहाज़ों को बनाने के लिए लकड़ी और दूसरी सामग्री खरीदते हैं और जावा में हम सामरिक व व्यापारिक संगठित दलों को, जिनकी जड़ें इस धरती में धँसी है, छोड़ते हैं। हाँ, जावा के जंगलों में एक सम्मानजनक नौसेना के निर्माण को बहुत ही कम समय में संभव करने के लिए पर्याप्त लकड़ी है, साथ ही जितनी ज़रूरत हो उतने व्यापारिक जहाज़ों को बनाने के लिए भी — इसके बावजूद जावा के जंगल उतनी ही तेज़ी से उगते हैं जितनी तेज़ी से उन्हें काटा जाता है। उचित प्रबंधन और अच्छी देख-रेख के साथ ये स्रोत कभी भी खत्म नहीं होंगे।'

डर्क वॉन होज़ेनडॉर्प; पेलूसो, *रिच फ़ॉरेस्ट्स, पुअर पीपुल*, 1992 में उद्धृत।

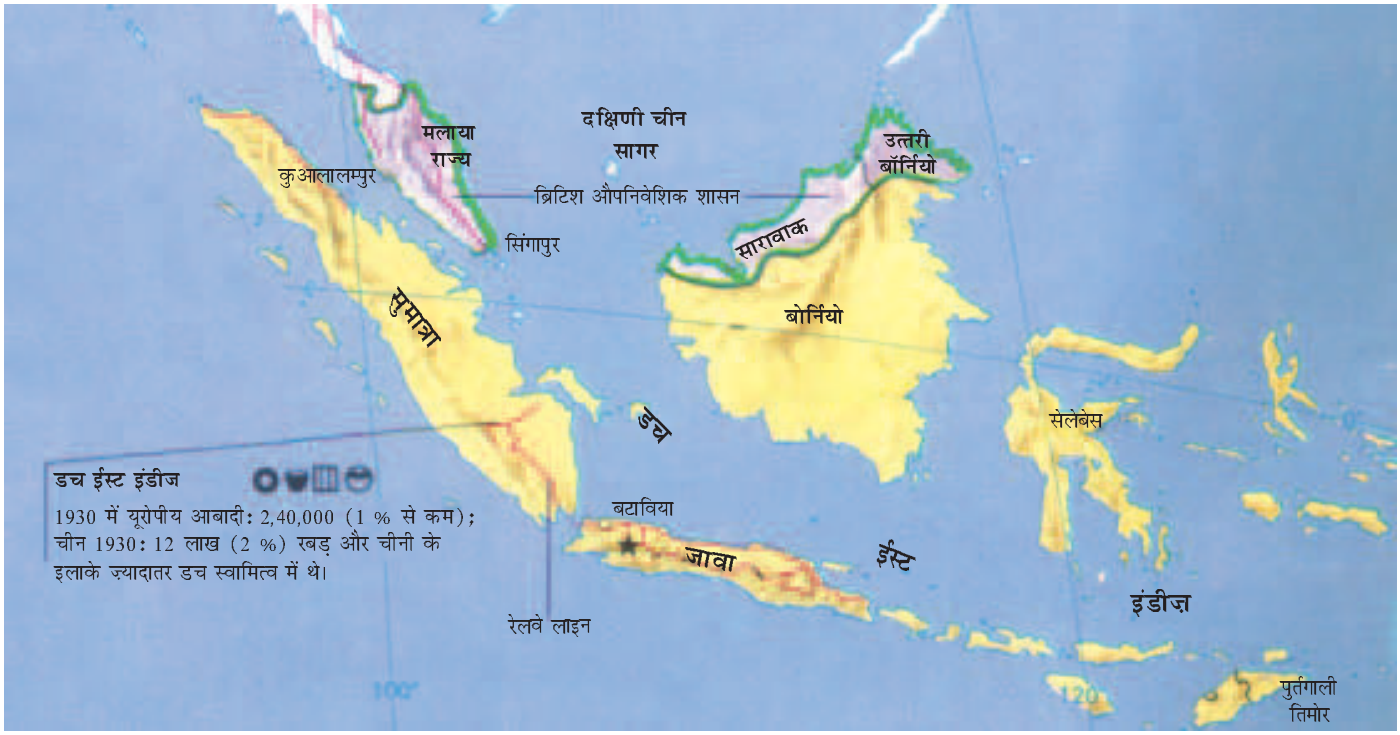

चित्र 22 - इंडोनेशिया के ज़्यादातर जंगल सुमात्रा, कालिमांतान व पश्चिम इरियान में स्थित हैं। जावा ही वह जगह है जहाँ डचों ने अपनी 'वैज्ञानिक वानिकी' की शुरुआत की थी। यह द्वीप जो अब चावल उत्पादन के लिए मशहूर है, कभी सागौन के जंगलों से ढका रहता था।

4.4 युद्ध और वन-विनाश

पहले और दूसरे विश्वयुद्ध का जंगलों पर गहरा असर पड़ा। भारत में तमाम चालू कार्ययोजनाओं को स्थगित करके वन विभाग ने अंग्रेज़ों की जंगी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए बेतहाशा पेड़ काटे। जावा पर जापानियों के कब्ज़े से ठीक पहले डचों ने 'भस्म-कर-भागो नीति' (Scorched Earth Policy) अपनायी जिसके तहत आरा-मशीनों और सागौन के विशाल लट्ठों के ढेर जला दिए गए जिससे वे जापानियों के हाथ न लग पाएँ। इसके बाद जापानियों ने वनवासियों को जंगल काटने के लिए बाध्य करके अपने युद्ध उद्योग के लिए जंगलों का निर्मम दोहन किया। बहुत सारे गाँव वालों ने इस अवसर का लाभ उठा कर जंगल में अपनी खेती का विस्तार किया। जंग के बाद इंडोनेशियाई वन सेवा के लिए इन ज़मीनों को वापस हासिल कर पाना कठिन था। हिंदुस्तान की ही तरह यहाँ भी खेती योग्य भूमि के प्रति लोगों की चाह और ज़मीन को नियन्त्रित करने तथा लोगों को उससे बाहर रखने की वन विभाग की ज़िद के बीच टकराव पैदा हुआ।

चित्र 23 - इंडियन म्यूनिशन्स बोर्ड, सूले पैगोड़ा पर एकत्रित जहाज़ों में लादने को तैयार वॉर टिम्बर स्लीपर, 1917.
पहले और दूसरे विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्र शायद इतना सफल नहीं होते यदि वे अपने उपनिवेशों की संपदाओं और व्यक्तियों का ऐसा दोहन करने में सक्षम न होते। दोनों विश्वयुद्धों का हिंदुस्तान, इंडोनेशिया व दूसरी जगहों के वनों पर विनाशकारी प्रभाव पड़ा। कार्ययोजनाओं को स्थगित कर दिया गया और वन विभाग ने युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए जमकर वृक्ष काटे।

4.5 वानिकी में नए बदलाव

अस्सी के दशक से एशिया और अफ़्रीका की सरकारों को यह समझ में आने लगा कि वैज्ञानिक वानिकी और वन समुदायों को जंगलों से बाहर रखने की नीतियों के चलते बार-बार टकराव पैदा होते हैं। परिणामस्वरूप, वनों से इमारती लकड़ी हासिल करने के बजाय जंगलों का संरक्षण ज़्यादा महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है। सरकार ने यह भी मान लिया है कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए वन प्रदेशों में रहने वालों की मदद लेनी होगी। मिज़ोरम से लेकर केरल तक हिंदुस्तान में हर कहीं घने जंगल सिर्फ इसलिए बच पाए कि ग्रामीणों ने *सरना, देवराकुडु, कान, राई* इत्यादि नामों से पवित्र बगीचा समझ कर इनकी रक्षा की। कुछ गाँव तो वन-रक्षकों पर निर्भर रहने के बजाय अपने जंगलों की चौकसी आप करते रहे हैं - इसमें हर परिवार बारी-बारी से अपना योगदान देता है। स्थानीय वन-समुदाय और पर्यावरणविद् अब वन-प्रबंधन के वैकल्पिक तरीकों के बारे में सोचने लगे हैं।

चित्र 24 - डच औपनिवेशिक शासन के अधीन रेमबैंग में लट्ठों का गोदाम.

क्रियाकलाप

क्रियाकलाप

1. जहाँ आप रहते हैं क्या वहाँ के जंगली इलाकों में कोई बदलाव आए हैं? ये बदलाव क्या हैं और क्यों हुए हैं?
2. एक औपनिवेशिक वनपाल और एक अदिवासी के बीच जंगल में शिकार करने के मसले पर होने वाली बातचीत के संवाद लिखें।

प्रश्न

1. औपनिवेशिक काल के वन प्रबंधन में आए परिवर्तनों ने इन समूहों को कैसे प्रभावित किया :
   - झूम खेती करने वालों को
   - घुमंतू और चरवाहा समुदायों को
   - लकड़ी और वन-उत्पादों का व्यापार करने वाली कंपनियों को
   - बागान मालिकों को
   - शिकार खेलने वाले राजाओं और अंग्रेज़ अफ़सरों को
2. बस्तर और जावा के औपनिवेशिक वन प्रबंधन में क्या समानताएँ हैं?
3. सन् 1880 से 1920 के बीच भारतीय उपमहाद्वीप के वनाच्छादित क्षेत्र में 97 लाख हेक्टेयर की गिरावट आयी। पहले के 10.86 करोड़ हेक्टेयर से घटकर यह क्षेत्र 9.89 करोड़ हेक्टेयर रह गया था। इस गिरावट में निम्नलिखित कारकों की भूमिका बताएँ :
   - रेलवे
   - जहाज़ निर्माण
   - कृषि-विस्तार
   - व्यावसायिक खेती
   - चाय-कॉफ़ी के बागान
   - आदिवासी और किसान
4. युद्धों से जंगल क्यों प्रभावित होते हैं?

आधुनिक विश्व में चरवाहे

चित्र 1 - पूर्वी गढ़वाल के बुग्याल में चरती भेड़ें.
बुग्याल ऊँचे पहाड़ों पर 12,000 फुट से भी ज़्यादा ऊँचाई पर स्थित विशाल प्राकृतिक चरागाह होते हैं। जाड़ों में ये बर्फ़ से ढके रहते हैं और अप्रैल के बाद हरे-भरे हो जाते हैं। इस समय पहाड़ियों की तलहटी तरह-तरह की घास, जड़ों और जड़ी-बूटियों से भरी रहती है। मॉनसून तक इन चरागाहों में घनी हरियाली छा जाती है और चारों तरफ फूल ही फूल दिखाई देने लगते हैं।

इस अध्याय में आप घुमंतू चरवाहों के बारे में पढ़ेंगे। घुमंतू ऐसे लोग होते हैं जो किसी एक जगह टिक कर नहीं रहते बल्कि रोज़ी-रोटी के जुगाड़ में यहाँ से वहाँ घूमते रहते हैं। देश के कई हिस्सों में हम घुमंतू चरवाहों को अपने जानवरों के साथ आते-जाते देख सकते हैं। चरवाहों की किसी टोली के पास भेड़-बकरियों का रेवड़ या झुंड होता है तो किसी के पास ऊँट या अन्य मवेशी रहते हैं। क्या उन्हें देख कर आपने कभी इस बारे में सोचा है कि वे कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं? क्या आपको पता है कि वे कैसे रहते हैं, उनकी आमदनी के साधन क्या हैं और उनका अतीत क्या था?

चरवाहों को इतिहास की पुस्तकों में विरले ही जगह मिल पाती है। जब भी आप अर्थव्यवस्था के बारे में पढ़ते हैं – फिर चाहे वह इतिहास की कक्षा हो या अर्थशास्त्र की – सिर्फ़ कृषि और उद्योगों के बारे में ही पढ़ते हैं। कभी-कभार इन कक्षाओं में कारीगरों के बारे में भी पढ़ने को मिल जाता है। लेकिन चरवाहों के बारे में पढ़ने-लिखने को ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। मानो उनकी ज़िंदगी का कोई मतलब ही न हो। अकसर मान लिया जाता है कि वे ऐसे लोग हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है; जैसे उनका दौर बीत चुका हो।

इस अध्याय में आप देखेंगे कि भारत और अफ़्रीका जैसे समाजों में चरवाही का कितना महत्त्व है। यहाँ आप जानेंगे कि उपनिवेशवाद ने उनकी ज़िंदगी पर कितना गहरा असर डाला है और इन समुदायों ने आधुनिक समाज के दबावों का किस तरह सामना किया है। इस भाग में हम पहले भारत और उसके बाद अफ़्रीका के चरवाहों की ज़िंदगी का अध्ययन करेंगे।

1 घुमंतू चरवाहे और उनकी आवाजाही

1.1 पहाड़ों में

जम्मू और कश्मीर के गुज्जर बकरवाल समुदाय के लोग भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ रखते हैं। इस समुदाय के अधिकतर लोग अपने मवेशियों के लिए चरागाहों की तलाश में भटकते-भटकते उन्नीसवीं सदी में यहाँ आए थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वे यहीं के होकर रह गए; यहीं बस गए। इसके बाद वे सर्दी-गर्मी के हिसाब से अलग-अलग चरागाहों में जाने लगे। जाड़ों में जब ऊँची पहाड़ियाँ बर्फ़ से ढक जातीं तो वे शिवालिक की निचली पहाड़ियों में आकर डेरा डाल लेते। जाड़ों में निचले इलाके में मिलने वाली सूखी झाड़ियाँ ही उनके जानवरों के लिए चारा बन जातीं। अप्रैल के अंत तक वे उत्तर दिशा में जाने लगते – गर्मियों के चरागाहों के लिए। इस सफ़र में कई परिवार काफ़िला बना कर साथ-साथ चलते थे। वे पीर पंजाल के दर्रों को पार करते हुए कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते। जैसे ही गर्मियाँ शुरू होतीं, जमी हुई बर्फ़ की मोटी चादर पिघलने लगती और चारों तरफ़ हरियाली छा जाती। इन दिनों में यहाँ उगने वाली तरह-तरह की घास से मवेशियों का पेट भी भर जाता था और उन्हें सेहतमंद खुराक भी मिल जाती थी। सितंबर के अंत में बकरवाल एक बार फिर अपना बोरिया-बिस्तर समेटने लगते। इस बार वे वापस अपने जाड़ों वाले ठिकाने की तरफ़ नीचे की ओर चले जाते। जब पहाड़ों की चोटियों पर बर्फ़ जमने लगती तो वे निचली पहाड़ियों की शरण में चले जाते।

पास के ही पहाड़ों में चरवाहों का एक और समुदाय रहता था। हिमाचल प्रदेश के इस समुदाय को गद्दी कहते हैं। ये लोग भी मौसमी उतार-चढ़ाव का सामना करने के लिए इसी तरह सर्दी-गर्मी के हिसाब से अपनी जगह बदलते रहते थे। वे भी शिवालिक की निचली पहाड़ियों में अपने मवेशियों को झाड़ियों में चराते हुए जाड़ा बिताते थे। अप्रैल आते-आते वे उत्तर की तरफ़ चल पड़ते और पूरी गर्मियाँ लाहौल और स्पीति में बिता देते। जब बर्फ़ पिघलती और ऊँचे दर्रे खुल जाते तो उनमें से बहुत सारे ऊपरी पहाड़ों में स्थित घास के मैदानों में जा पहुँचते थे। सितंबर तक वे दोबारा वापस चल पड़ते। वापसी में वे लाहौल

स्रोत क

1850 के दशक में जी. सी. बार्न्स ने काँगड़ा के गुज्जरों का वर्णन इस प्रकार किया था :

'पहाड़ियों में रहने वाले गुज्जर शुद्ध चरवाहा कबीले के लोग हैं। वे लगभग न के बराबर खेती करते हैं। गद्दियों के पास भेड़-बकरियाँ होती हैं तो गुज्जर गाय-भैंस पालते हैं। ये लोग जंगलों के किनारे रहते हैं और दूध, घी और मवेशियों से मिलने वाली दूसरी चीज़ें बेच कर अपना पेट पालते हैं। घर के मर्द मवेशियों को चराने ले जाते हैं और कई बार हफ़्तों तक घर नहीं लौटते। इस बीच वे जंगल में अपने रेवड़ के साथ ही रहते हैं। औरतें सिर पर टोकरियाँ और कंधे पर हाँडियाँ लटका कर रोज बाज़ार चली जाती हैं। उनकी हाँडियों में दूध, मक्खन और घी आदि होता है। वे सिर्फ़ इतनी चीज़ें ही बाज़ार में ले जा पाती हैं जितनी घर चलाने के लिए काफ़ी हों। गर्मियों में गुज्जर अपने रेवड़ों को लेकर प्रायः ऊपरी इलाकों में चले जाते हैं जहाँ उनकी भैंसों को न केवल बहुत सारी हरी-भरी बरसाती घास मिल जाती है और वे शीतोष्ण (न ज़्यादा ठंडा, न ज़्यादा गरम) मौसम के हिसाब से खुद को ढाल लेती हैं बल्कि उन ज़हरीली मक्खियों से भी छुटकारा मिल जाता है जो मैदानों में उनका जीना मुहाल किए रहते हैं।'

जी सी बार्न्स, *सेटलमेंट रिपोर्ट ऑफ़ काँगड़ा*, 1850-55.

चित्र 2 – मध्य गढ़वाल के ऊँचे पहाड़ों में एक गुज्जर मंडप. *गुज्जर गड़रिये बुग्याल में मिलने वाले सिंगल (एक तरह का पहाड़ी बाँस) और घास से बने मंडपों में रहते हैं। इन्हीं मंडपों का इस्तेमाल कार्यस्थल के रूप में भी होता था। यहाँ गुज्जर घी निकालते थे और उसे बेचते थे। हाल के सालों में वे बसों और ट्रकों में भर कर भी दूध ले जाने लगे हैं। ये मंडप 10,000 से 11,000 फ़ुट की ऊँचाई पर होते हैं। भैंसें इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं जा सकतीं।*

चित्र 3 - ऊन उतरने का इंतज़ार। हिमाचल प्रदेश स्थित पालमपुर के पास उहल घाटी.

और स्पीति के गाँवों में एक बार फिर कुछ समय के लिए रुकते। इस बीच वे गर्मियों की फ़सलें काटते और सर्दियों की फ़सलों की बुवाई करके आगे बढ़ जाते। यहाँ से वे अपने रेवड़ लेकर शिवालिक की पहाड़ियों में जाड़ों वाले चरागाहों में चले जाते और अगली अप्रैल में भेड़-बकरियाँ लेकर वे दोबारा गर्मियों के चरागाहों की तरफ़ रवाना हो जाते।

आइए, अब ज़रा और पूर्व की तरफ़ चलें। गढ़वाल और कुमाऊँ के गुज्जर चरवाहे सर्दियों में **भाबर** के सूखे जंगलों की तरफ़ और गर्मियों में ऊपरी घास के मैदानों - **बुग्याल** - की तरफ़ चले जाते थे। इनमें से बहुत सारे हरे-भरे चरागाहों की तलाश में उन्नीसवीं सदी में जम्मू से उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में आए थे और बाद में यहीं बस गए।

सर्दी-गर्मी के हिसाब से हर साल चरागाह बदलते रहने का यह चलन हिमालय के पर्वतों में रहने वाले बहुत सारे चरवाहा समुदायों में दिखायी देता था। यहाँ के भोटिया, शेरपा और किन्नौरी समुदाय के लोग भी इसी तरह के चरवाहे थे। ये सभी समुदाय मौसमी बदलावों के हिसाब से ख़ुद को ढालते थे और अलग-अलग इलाकों में पड़ने वाले चरागाहों का बेहतरीन इस्तेमाल करते थे। जब एक चरागाह की हरियाली खत्म हो जाती थी या इस्तेमाल के काबिल नहीं रह जाती थी तो वे किसी और चरागाह की तरफ़ चले जाते थे। इस आवाजाही से चरागाह ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल से भी बच जाते थे और उनमें दोबारा हरियाली व ज़िंदगी भी लौट आती थी।

नए शब्द

भाबर : गढ़वाल और कुमाऊँ के इलाके में पहाड़ियों के निचले हिस्से के आसपास पाए जाने वाला शुष्क या सूखे जंगल का इलाका।

बुग्याल : ऊँचे पहाड़ों में स्थित घास के मैदान।

चित्र 4 - गद्दी भेड़ों की ऊन उतार रहे हैं.
सितंबर तक गद्दी ऊँचे मैदानों (धार) से नीचे आने लगते हैं। रास्ते में कुछ समय रुक कर वे अपनी भेड़ों की ऊन उतरवाते हैं। ऊन काटने से पहले भेड़ों को नहला-धुला कर साफ़ किया जाता है।

1.2 पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में

चरवाहे सिर्फ़ पहाड़ों में ही नहीं रहते थे। वे पठारों, मैदानों और रेगिस्तानों में भी बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे।

धंगर महाराष्ट्र का एक जाना-माना चरवाहा समुदाय है। बीसवीं सदी की शुरुआत में इस समुदाय की आबादी लगभग 4,67,000 थी। उनमें से ज़्यादातर गड़रिये या चरवाहे थे हालाँकि कुछ लोग कम्बल और चादरें भी बनाते थे जबकि कुछ भैंस पालते थे। धंगर गड़रिये बरसात के दिनों में महाराष्ट्र के मध्य पठारों में रहते थे। यह एक अर्ध-शुष्क इलाका था जहाँ बारिश बहुत कम होती थी और मिट्टी भी खास उपजाऊ नहीं थी। चारों तरफ़ सिर्फ़ कंटीली झाड़ियाँ होती थीं। बाजरे जैसी सूखी फ़सलों के अलावा यहाँ और कुछ नहीं उगता था। मॉनसून में यह पट्टी धंगरों के जानवरों के लिए एक विशाल चरागाह बन जाती थी। अक्तूबर के आसपास धंगर बाजरे की कटाई करते थे और चरागाहों की तलाश में पश्चिम की तरफ़ चल पड़ते थे। करीब महीने भर पैदल चलने के बाद वे अपने रेवड़ों के साथ कोंकण के इलाके में जाकर डेरा डाल देते थे। अच्छी बारिश और उपजाऊ मिट्टी की बदौलत इस इलाके में खेती खूब होती थी। कोंकणी किसान भी इन चरवाहों का दिल खोलकर स्वागत करते थे। जिस समय धंगर कोंकण पहुँचते थे उसी समय कोंकण के किसानों को **खरीफ़** की फ़सल काट कर अपने खेतों को **रबी** की फ़सल के लिए दोबारा उपजाऊ बनाना होता था।

चित्र 5 - पश्चिमी राजस्थान के थार रेगिस्तान में चरते राइका समुदाय के ऊँट.
यहाँ पाई जाने वाली सूखी और कँटीली झाड़ियों के सहारे सिर्फ़ ऊँट ही ज़िंदा रह सकते हैं; लेकिन पर्याप्त भोजन पाने के लिए उन्हें बहुत बड़े इलाके में चरना पड़ता है।

धंगरों के मवेशी खरीफ़ की कटाई के बाद खेतों में बची रह गई **ठूँठों** को खाते थे और उनके गोबर से खेतों को खाद मिल जाती थी। कोंकणी किसान धंगरों को चावल भी देते थे जिन्हें वे वापस अपने पठारी इलाके में ले जाते थे क्योंकि वहाँ इस तरह के अनाज बहुत कम होते थे। मॉनसून की बारिश शुरू होते ही धंगर कोंकण और तटीय इलाके छोड़कर सूखे पठारों की तरफ़ लौट जाते थे क्योंकि भेड़ें गीले मॉनसूनी हालात को बर्दाश्त नहीं कर पातीं।

कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भी सूखे मध्य पठार घास और पत्थरों से अटे पड़े थे। इनमें मवेशियों, भेड़-बकरियों और गड़रियों का ही बसेरा रहता था।

नए शब्द

रबी : जाड़ों की फ़सलें जिनकी कटाई मार्च के बाद शुरू होती है।

खरीफ़ : सितंबर-अक्तूबर में कटने वाली फ़सलें।

ठूँठ : पौधों की कटाई के बाद ज़मीन में रह जाने वाली उनकी जड़।

यहाँ गोल्ला समुदाय के लोग गाय-भैंस पालते थे जबकि कुरुमा और कुरुबा समुदाय भेड़-बकरियाँ पालते थे और हाथ के बुने कम्बल बेचते थे। ये लोग जंगलों और छोटे-छोटे खेतों के आसपास रहते थे। वे अपने जानवरों की देखभाल के साथ-साथ कई दूसरे काम-धंधे भी करते थे। पहाड़ी चरवाहों के विपरीत यहाँ के चरवाहों का एक स्थान से दूसरे स्थान जाना सर्दी-गर्मी से तय नहीं होता था। ये लोग बरसात और सूखे मौसम के हिसाब से अपनी जगह बदलते थे। सूखे महीनों में वे तटीय इलाकों की तरफ़ चले जाते थे जबकि बरसात शुरू होने पर वापस चल देते थे। मॉनसून के दिनों में तटीय इलाकों में जिस तरह के गीले दलदली हालात पैदा हो जाते थे वे सिर्फ़ भैंसों को ही रास आ सकते थे। ऐसे समय में बाकी जानवरों को सूखे पठारी इलाकों में ले जाना ज़रूरी था।

चरवाहों में एक जाना-पहचाना नाम बंजारों का भी है। बंजारे उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कई इलाकों में रहते थे। ये लोग बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और रास्ते में अनाज और चारे के बदले गाँव वालों को खेत जोतने वाले जानवर और दूसरी चीज़ें बेचते जाते थे। वे जहाँ भी जाते अपने जानवरों के लिए अच्छे चरागाहों की खोज में रहते।

स्रोत ख

बहुत सारे मुसाफ़िरों के विवरणों में हमें चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी की झलक मिलती है। मिसाल के तौर पर, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बुकानन ने मैसूर की अपनी यात्रा के दौरान गोल्ला समुदाय का दौरा किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखा :

'उनके परिवार जंगलों के किनारे छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं। यहाँ वे थोड़ी-सी ज़मीन पर खेती करते हैं, थोड़े-बहुत जानवर रखते हैं और पास के कस्बों में जाकर दुग्ध उत्पाद बेचते हैं। उनके परिवार बहुत बड़े होते हैं। एक-एक घर में सात-आठ नौजवान आसानी से मिल जाएँगे। उनमें से दो-तीन लोग जंगल में जानवर चराते हैं जबकि बाकी अपने खेत संभालते हैं और कस्बों में जलावन की लकड़ी, छप्पर के लिए पुआल आदि पहुँचाते हैं।'

फ्रांसिस हेमिल्टन बुकानन, *ए जर्नी फ्रॉम मद्रास थ्रू दि कंट्रीज़ ऑफ़ मैसूर, कनारा एण्ड मालाबार* (लंदन, 1807)।

क्रियाकलाप

स्रोत क और ख को पढ़िए :

- इन स्रोतों के आधार पर संक्षेप में बताइए कि चरवाहा परिवारों के औरत-मर्द क्या-क्या काम करते थे।
- आपकी राय में चरवाहे जंगलों के आसपास ही क्यों रहते हैं?

राजस्थान के रेगिस्तानों में राइका समुदाय रहता था। इस इलाके में बारिश का कोई भरोसा नहीं था। होती भी थी तो बहुत कम। इसीलिए खेती की उपज हर साल घटती-बढ़ती रहती थी। बहुत सारे इलाकों में तो दूर-दूर तक कोई फ़सल होती ही नहीं थी। इसके चलते राइका खेती के साथ-साथ चरवाही का भी काम करते थे। बरसात में तो बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर के राइका अपने गाँवों में ही रहते थे क्योंकि इस दौरान उन्हें वहीं चारा मिल जाता था। पर, अक्तूबर आते-आते ये चरागाह सूखने लगते थे। नतीजतन ये लोग नए चरागाहों की तलाश में दूसरे इलाकों की तरफ़ निकल जाते थे और अगली बरसात में ही वापस लौटते थे। राइकाओं का एक तबका ऊँट पालता था जबकि कुछ भेड़-बकरियाँ पालते थे।

इस तरह हम देख सकते हैं कि चरवाहा समुदायों की ज़िंदगी कई चीज़ों के बारे में काफ़ी सोच-विचार करके आगे बढ़ती थी। उन्हें इस

चित्र 6 - अपने ऊँट के साथ एक ऊँटपालक.
यह राजस्थान में जैसलमेर के निकट थार का रेगिस्तान है। इस इलाके के ऊँट पालकों को मारू (रेगिस्तान) राइका और उनकी बस्ती को ढंडी कहा जाता है।

चित्र 7 - पश्चिमी राजस्थान में बलोतरा स्थित ऊँट मेला.
ऊँटपालक यहाँ ऊँटों की खरीद-फ़रोख्त के लिए आते हैं। मेले में मारू राइका ऊँटों के प्रशिक्षण में अपनी महारत का भी प्रदर्शन करते हैं। इस मेले में गुजरात से घोड़े भी लाए जाते हैं।

बात का हमेशा खयाल रखना पड़ता था कि उनके रेवड़ एक इलाके में कितने दिन तक रह सकते हैं और उन्हें कहाँ पानी और चरागाह मिल सकते हैं। उन्हें न केवल एक इलाके से दूसरे इलाके में जाने का सही समय चुनना पड़ता था बल्कि यह भी देखना पड़ता था कि उन्हें किन इलाकों से गुज़रने की छूट मिल पाएगी और किन इलाकों से नहीं। सफ़र के दौरान उन्हें रास्ते में पड़ने वाले गाँवों के किसानों से भी अच्छे संबंध बनाने पड़ते थे ताकि उनके जानवर किसानों के खेतों में घास चर सकें और उनको उपजाऊ बनाते चलें। अपनी रोजी-रोटी के जुगाड़ में उन्हें खेती, व्यापार और चरवाही, ये सारे काम करने पड़ते थे।

आइए, अब देखें कि औपनिवेशिक शासन के दौरान यानी अंग्रेज़ों के ज़माने में चरवाहों का जीवन किस तरह बदला?

चित्र 8 - पुष्कर का ऊँट मेला.

चित्र 9 – मारू राइकाओं की वंशावली बताने वाला.
वंशावली बताने वाला समुदाय का इतिहास बताता है। इस तरह की मौखिक परंपराओं से चरवाहा समुदायों को अपनी पहचान का भाव मिलता है। इन परंपराओं से हम यह पता लगा सकते हैं कि कोई समूह अपने अतीत को किस तरह देखता है।

चित्र 10 – चरागाहों की तलाश में निकले मालधारी चरवाहे। उनके गाँव कच्छ की रन में स्थित हैं.

2 औपनिवेशिक शासन और चरवाहों का जीवन

औपनिवेशिक शासन के दौरान चरवाहों की ज़िंदगी में गहरे बदलाव आए। उनके चरागाह सिमट गए, इधर-उधर आने-जाने पर बंदिशें लगने लगीं और उनसे जो लगान वसूल किया जाता था उसमें भी वृद्धि हुई। खेती में उनका हिस्सा घटने लगा और उनके पेशे और हुनरों पर भी बहुत बुरा असर पड़ा।

आइए देखें कि यह सब कैसे और क्यों हुआ?

पहली बात : अंग्रेज़ सरकार चरागाहों को खेती की ज़मीन में तब्दील कर देना चाहती थी। ज़मीन से मिलने वाला लगान उसकी आमदनी का एक बड़ा स्रोत था। खेती का क्षेत्रफल बढ़ने से सरकार की आय में और बढ़ोतरी हो सकती थी। इतना ही नहीं, इससे जूट (पटसन), कपास, गेहूँ और अन्य खेतिहर चीज़ों के उत्पादन में भी इजाफ़ा हो जाता जिनकी इंग्लैंड में बहुत ज़्यादा ज़रूरत रहती थी। अंग्रेज़ अफ़सरों को बिना खेती की ज़मीन का कोई मतलब समझ में नहीं आता था : उससे न तो लगान मिलता था और न ही उपज। अंग्रेज़ ऐसी ज़मीन को 'बेकार' मानते थे। उसे खेती के लायक बनाना ज़रूरी था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देश के विभिन्न भागों में परती भूमि विकास के लिए नियम बनाए जाने लगे। इन कायदे-कानूनों के ज़रिए सरकार गैर-खेतिहर ज़मीन को अपने कब्ज़े में लेकर कुछ खास लोगों को सौंपने लगी। इन लोगों को कई तरह की रियायतें दी गईं और इस ज़मीन को खेती के लायक बनाने और उस पर खेती करने के लिए जम कर बढ़ावा दिया गया। ऐसे कुछ लोगों को गाँव का मुखिया बना दिया गया। इस तरह कब्ज़े में ली गई ज़्यादातर ज़मीन चरागाहों की थी जिनका चरवाहे नियमित रूप से इस्तेमाल किया करते थे। इस तरह खेती के फैलाव से चरागाह सिमटने लगे और चरवाहों के लिए समस्याएँ पैदा होने लगीं।

दूसरी बात : उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते देश के विभिन्न प्रांतों में वन अधिनियम भी पारित किए जाने लगे थे। इन कानूनों की आड़ में सरकार ने ऐसे कई जंगलों को 'आरक्षित' वन घोषित कर दिया जहाँ देवदार या साल जैसी कीमती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में चरवाहों के घुसने पर पाबंदी लगा दी गई। कई जंगलों को 'संरक्षित' घोषित कर दिया गया। इन जंगलों में चरवाहों को चरवाही के कुछ **परंपरागत अधिकार** तो दे दिए गए लेकिन उनकी आवाजाही पर फिर भी बहुत सारी बंदिशें लगी रहीं। औपनिवेशिक अधिकारियों को लगता था कि पशुओं के चरने से छोटे जंगली पौधे और पेड़ों की नई कोपलें नष्ट हो जाती हैं। उनकी राय में, चरवाहों के रेवड़ छोटे पौधों को कुचल देते हैं और कोंपलों को खा जाते हैं जिससे नए पेड़ों की बढ़त रुक जाती है।

वन अधिनियमों ने चरवाहों की ज़िंदगी बदल डाली। अब उन्हें उन जंगलों में जाने से रोक दिया गया जो पहले मवेशियों के लिए बहुमूल्य चारे

स्रोत ग

एच. एस. गिब्सन, वन उपसंरक्षक, दार्जिलिंग, ने 1913 में लिखा था :

'... चरवाही के लिए प्रयोग किए जा रहे जंगल को किसी और काम के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा और वहाँ से इमारती लकड़ी तथा ईंधन इकट्ठा नहीं किया जाएगा जो मुख्य वन उत्पाद होते हैं ...'

क्रियाकलाप

मान लीजिए कि जंगलों में जानवरों को चराने पर रोक लगा दी गई है। इस बात पर निम्नलिखित की दृष्टि से टिप्पणी कीजिए :

- एक वन अधिकारी
- एक चरवाहा

नए शब्द

परंपरागत अधिकार: परंपरा और रीति-रिवाज के आधार पर मिलने वाले अधिकार।

का स्रोत थे। जिन क्षेत्रों में उन्हें प्रवेश की छूट दी गई वहाँ भी उन पर कड़ी नज़र रखी जाती थी जंगलों में दाखिल होने के लिए उन्हें परमिट लेना पड़ता था। जंगल में उनके प्रवेश और वापसी की तारीख पहले से तय होती थी और वह जंगल में बहुत कम ही दिन बिता सकते थे। अब चरवाहे किसी जंगल में ज़्यादा समय तक नहीं रह सकते थे भले ही वहाँ चारा कितना ही हो, घास कितनी भी क्यों न हो, और चारों तरफ घनी हरियाली हो। उन्हें इसलिए निकलता पड़ता था क्योंकि अब उनकी ज़िंदगी वन विभाग द्वारा जारी किए परमिटों के अधीन थी। परमिट में पहले ही लिख दिया जाता था कि वह कानूनन कब तक जंगल में रहेंगे। अगर वह समय-सीमा का उल्लंघन करते थे तो उन पर जुर्माना लगा दिया जाता था।

तीसरी बात : अंग्रेज़ अफ़सर घुमंतू किस्म के लोगों को शक की नज़र से देखते थे। वे गाँव-गाँव जाकर अपनी चीज़ें बेचने वाले कारीगरों व व्यापारियों और अपने रेवड़ के लिए हर साल नए-नए चरागाहों की तलाश में रहने वाले, हर मौसम में अपनी रिहाइश बदल लेने वाले चरवाहों पर यकीन नहीं कर पाते थे। वे चाहते थे कि ग्रामीण जनता गाँवों में रहे, उनकी रिहाइश और खेतों पर उनके अधिकार तय हों। इस तरह की आबादी की पहचान करना और उसको नियंत्रित करना ज़्यादा आसान था जो एक जगह टिक कर रहती हो। ऐसे लोगों को शांतिप्रिय और कानून का पालन करने वाला माना जाता था; घुमंतुओं को अपराधी माना जाता था। 1871 में औपनिवेशिक सरकार ने अपराधी जनजाति अधिनियम (Criminal Tribes Act) पारित किया। इस कानून के तहत दस्तकारों, व्यापारियों और चरवाहों के बहुत सारे समुदायों को अपराधी समुदायों की सूची में रख दिया गया। उन्हें कुदरती और जन्मजात अपराधी घोषित कर दिया गया। इस कानून के लागू होते ही ऐसे सभी समुदायों को कुछ खास अधिसूचित गाँवों/बस्तियों में बस जाने का हुक्म सुना दिया गया। उनकी बिना परमिट आवाजाही पर रोक लगा दी गई। ग्राम्य पुलिस उन पर सदा नज़र रखने लगी।

चौथी बात : अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए अंग्रेज़ों ने लगान वसूलने का हर संभव रास्ता अपनाया। उन्होंने ज़मीन, नहरों के पानी, नमक, खरीद-फ़रोख्त की चीज़ों और यहाँ तक कि मवेशियों पर भी टैक्स वसूलने का एलान कर दिया। चरवाहों से चरागाहों में चरने वाले एक-एक जानवर पर टैक्स वसूल किया जाने लगा। देश के ज़्यादातर चरवाही इलाकों में उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही चरवाही टैक्स लागू कर दिया गया था। प्रति मवेशी टैक्स की दर तेज़ी से बढ़ती चली गई और टैक्स वसूली की व्यवस्था दिनोंदिन मज़बूत होती गई। 1850 से 1880 के दशकों के बीच टैक्स वसूली का काम बाकायदा बोली लगा कर ठेकेदारों को सौंपा जाता था। ठेकेदारी पाने के लिए ठेकेदार सरकार को जो पैसा देते थे उसे वसूल करने और साल भर में ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बनाने के लिए वे जितना चाहे उतना कर वसूल सकते थे। 1880 के दशक तक आते-आते सरकार ने अपने कारिंदों के माध्यम से सीधे चरवाहों से ही कर वसूलना शुरू कर दिया। हरेक चरवाहे को एक 'पास' जारी कर दिया गया। किसी भी चरागाह में दाखिल होने के लिए चरवाहों को

स्रोत घ

1920 के दशक में *रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर* ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि :

'बढ़ती आबादी, सिंचाई सुविधाओं के विस्तार और रक्षा, उद्योग एवं कृषि प्रायोगिक उद्योगों के लिए सरकार द्वारा चरागाहों के अधिग्रहण की वजह से चरवाही के लिए उपलब्ध इलाकों के क्षेत्रफल में बहुत भारी गिरावट आई है। [अब] पशुपालकों को बड़े-बड़े रेवड़ रखने में मुश्किल पैदा हो रही है। इसकी वजह से उनकी आमदनी में गिरावट आई है। उनके जानवरों की गुणवत्ता और खुराक गिर गई है और कर्ज़े बढ़ते जा रहे हैं।'

द रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर इन इंडिया, 1928.

क्रियाकलाप

कल्पना कीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों यानी सन् 1890 के आसपास रह रहे हैं। आप घुमंतू चरवाहों या कारीगरों के एक समुदाय से ताल्लुक रखते हैं। आपको पता चला है कि सरकार ने आपके समुदाय को अपराधी समुदाय घोषित कर दिया है।

- संक्षेप में बताइए कि यह जानकर आपको कैसा महसूस होता और आप क्या करते।
- स्थानीय कलेक्टर को चिट्ठी लिखकर बताइए कि आपकी नज़र में यह कानून किस तरह अन्यायपूर्ण है और इससे आपकी ज़िंदगी पर क्या असर पड़ेंगे।

पास दिखाकर पहले टैक्स अदा करना पड़ता था। चरवाहे के साथ कितने जानवर हैं और उसने कितना टैक्स चुकाया है, इस बात को उसके पास में दर्ज कर दिया जाता था।

2.1 इन बदलावों ने चरवाहों की जिंदगी को किस तरह प्रभावित किया?

इन चीज़ों की वजह से चरागाहों की गंभीर कमी पैदा हो गई। जैसे-जैसे ज़्यादा से ज़्यादा चरागाहों को सरकारी कब्ज़े में लेकर उन्हें खेतों में बदला जाने लगा, वैसे-वैसे चरागाहों के लिए उपलब्ध इलाका सिकुड़ने लगा। इसी तरह, जंगलों के आरक्षण का नतीजा यह हुआ कि गड़रिये और पशुपालक अब अपने मवेशियों को जंगलों में पहले जैसी आज़ादी से नहीं चरा सकते थे।

जब चरागाह खेतों में बदलने लगे तो बचे-खुचे चरागाहों में चरने वाले जानवरों की तादाद बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि चरागाह सदा जानवरों से भरे रहने लगे। अब तक तो घुमंतू चरवाहे अपने मवेशियों को कुछ दिन तक ही एक इलाके में चराते थे और उसके बाद किसी और इलाके में चले जाते थे। इस अदला-बदली की वजह से पिछले चरागाह भी फिर से हरे-भरे हो जाते थे। लेकिन चरवाहों की आवाजाही पर लगी बंदिशों

चित्र 11 - भारत में चरवाहा समुदाय.
इस नक्शे में केवल उन चरवाहा समुदायों के इलाकों का उल्लेख किया गया है जिनके बारे में इस अध्याय में बात की गई है। इनके अलावा भी हमारे देश में कई और चरवाहा समुदाय रहते हैं।

और चरागाहों के बेहिसाब इस्तेमाल से चरागाहों का स्तर गिरने लगा। जानवरों के लिए चारा कम पड़ने लगा। फलस्वरूप जानवरों की सेहत और तादाद भी गिरने लगी। चारे की कमी और जब-तब पड़ने वाले अकाल की वजह से कमज़ोर और भूखे जानवर बड़ी संख्या में मरने लगे।

2.2 चरवाहों ने इन बदलावों का सामना कैसे किया?

इन बदलावों पर चरवाहों की प्रतिक्रिया कई रूपों में सामने आई। कुछ चरवाहों ने तो अपने जानवरों की संख्या ही कम कर दी। अब बहुत सारे जानवरों को चराने के लिए पहले की तरह बड़े-बड़े और बहुत सारे मैदान नहीं बचे थे। जब पुराने चरागाहों का इस्तेमाल करना मुश्किल हो गया तो कुछ चरवाहों ने नए-नए चरागाह ढूँढ़ लिए। मिसाल के तौर पर, ऊँट और भेड़ पालने वाले राइका 1947 के बाद न तो सिंध में दाखिल हो सकते थे और न सिंधु नदी के किनारे अपने जानवरों को चरा सकते थे। भारत और पाकिस्तान के बीच खींच दी गई नई सीमारेखा ने उन्हें उस तरफ़ जाने से रोक दिया। ज़ाहिर है अब उन्हें जानवरों को चराने के लिए नई जगह ढूँढ़नी थी। अब वे हरियाणा के खेतों में जाने लगे हैं जहाँ कटाई के बाद खाली पड़े खेतों में वे अपने मवेशियों को चरा सकते हैं। इसी समय खेतों को खाद की भी ज़रूरत रहती है जो उन्हें इन जानवरों के मल-मूत्र से मिल जाती है।

समय गुज़रने के साथ कुछ धनी चरवाहे ज़मीन खरीद कर एक जगह बस कर रहने लगे। उनमें से कुछ नियमित रूप से खेती करने लगे जबकि कुछ व्यापार करने लगे। जिन चरवाहों के पास ज़्यादा पैसा नहीं था वे सूदखोरों से ब्याज पर कर्ज़ लेकर दिन काटने लगे। इस चक्कर में बहुतों के मवेशी भी हाथ से जाते रहे और वे मज़दूर बन कर रह गए। वे खेतों या छोटे-मोटे कस्बों में मज़दूरी करते दिखाई देने लगे।

इस सबके बावजूद चरवाहे न केवल आज भी ज़िंदा हैं बल्कि हाल के दशकों में कई जगह तो उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई है। जब भी किसी इलाके के चरागाहों में उनके दाखिले पर रोक लगा दी जाती वे अपनी दिशा बदल लेते, रेवड़ छोटा कर लेते और नई दुनिया के मिज़ाज से तालमेल बिठाने के लिए दूसरे काम-धंधे भी करने लगते। बहुत सारे पारिस्थिति विज्ञानी मानते हैं कि सूखे इलाकों और पहाड़ों में ज़िंदा रहने के लिए चरवाही ही सबसे व्यावहारिक रास्ता है।

बहरहाल, चरवाहों पर इस तरह के बदलाव सिर्फ़ हमारे देश में ही नहीं थोपे गए थे। दुनिया के बहुत सारे इलाकों में नए कानूनों और बसाहट के नए तौर-तरीकों ने उन्हें आधुनिक दुनिया में आ रहे बदलावों के मुताबिक अपनी ज़िंदगी का ढर्रा बदलने पर मजबूर किया है। आधुनिक विश्व में आए इन बदलावों से निपटने के लिए बाकी देशों के चरवाहों ने क्या रास्ते अपनाए?

3 अफ़्रीका में चरवाहा जीवन

आइए अब ज़रा अफ़्रीका की तरफ़ चलें जहाँ दुनिया की आधी से ज़्यादा चरवाहा आबादी रहती है। आज भी अफ़्रीका के लगभग सवा दो करोड़ लोग रोज़ी-रोटी के लिए किसी न किसी तरह की चरवाही गतिविधियों पर ही आश्रित हैं। इनमें बेदुईन्स, बरबेर्स, मासाई, सोमाली, बोरान और तुर्काना जैसे जाने-माने समुदाय भी शामिल हैं। इनमें से ज़्यादातर अब अर्ध-शुष्क घास के मैदानों या सूखे रेगिस्तानों में रहते हैं जहाँ वर्षा आधारित खेती करना बहुत मुश्किल है। यहाँ के चरवाहे गाय-बैल, ऊँट, बकरी, भेड़ व गधे पालते हैं और दूध, माँस, पशुओं की खाल व ऊन आदि बेचते हैं। कुछ चरवाहे व्यापार और यातायात संबंधी काम भी करते हैं। कुछ चरवाही के साथ-साथ खेती भी करते हैं। कुछ लोग चरवाही से होने वाली मामूली आय से गुजर नहीं हो पाने पर कोई भी धंधा कर लेते हैं।

हिंदुस्तान की तरह अफ़्रीकी चरवाहों की ज़िंदगी में भी औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में गहरे बदलाव आए हैं। आखिर क्या थे ये बदलाव?

चित्र 12 - मासाई लैंड जिसके पीछे किलिमंजारो पहाड़ दिखाई दे रहे हैं.
बदलती परिस्थितियों के कारण मासाई मक्का, चावल, आलू, गोभी जैसे उन खाद्य पदार्थों पर निर्भर होते जा रहे हैं जो उनके इलाके में पैदा नहीं होते। परंपरागत रूप से वे इन चीज़ों को पसंद नहीं करते थे। मासाई मानते हैं कि फ़सल उगाने के लिए ज़मीन पर हल चलाना प्रकृति के विरुद्ध है; यदि आप ज़मीन पर खेती करने लगते हैं तो वह चरवाही के लायक नहीं रहती। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 13 – अफ़्रीका के चरवाहा समुदाय.
छोटी तस्वीर (इनसेट) में कीनिया और तंज़ानिया में मासाइयों का इलाका दर्शाया गया है।

इन परिवर्तनों को हम चरवाहों के एक खास समुदाय के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे। चलिए इसके लिए मासाई नाम के समुदाय को चुन लेते हैं। मासाई पशुपालक मोटे तौर पर पूर्वी अफ़्रीका के निवासी हैं। इनमें से लगभग 3,00,000 दक्षिणी कीनिया में और करीब 1,50,000 तंज़ानिया में रहते हैं। अभी हम देखेंगे कि नए कानूनों और बंदिशों ने किस तरह न केवल उनकी ज़मीन उनसे छीन ली बल्कि उनकी आवाजाही पर भी बहुत सारी पाबंदियाँ थोप दी हैं। इन कानूनों के कारण सूखे के दिनों में उनकी ज़िंदगी गहरे तौर पर बदल गई है और उनके सामाजिक संबंध भी एक नई शक्ल में ढल गए हैं।

3.1 चरागाहों का क्या हुआ?

मासाइयों की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि उनके चरागाह दिनोंदिन सिमटते जा रहे हैं। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाईलैंड का इलाका उत्तरी कीनिया से लेकर तंज़ानिया के घास के मैदानों (स्तेपीज़) तक फैला हुआ था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों ने अफ़्रीका में कब्ज़े के लिए मारकाट शुरू कर दी और बहुत सारे इलाकों को छोटे-छोटे उपनिवेशों में तब्दील करके अपने-अपने कब्ज़े में ले लिया। 1885 में ब्रिटिश कीनिया और जर्मन तांगान्यिका के बीच एक अंतर्राष्ट्रीय

तांगान्यिका के बारे में

ब्रिटेन ने पहले विश्वयुद्ध के दौरान उस इलाके पर कब्ज़ा कर लिया जिसे जर्मन ईस्ट अफ़्रीका कहा जाता था। 1919 में तांगान्यिका ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया। 1961 में उसे आज़ादी मिली और 1964 में ज़ंज़ीबार के विलय के बाद उसे तंज़ानिया का नया नाम दिया गया।

सीमा खींचकर मासाईलैंड के दो बराबर-बराबर टुकड़े कर दिए गए। बाद के सालों में सरकार ने गोरों को बसाने के लिए बेहतरीन चरागाहों को अपने कब्ज़े में ले लिया। मासाइयों को दक्षिणी कीनिया और उत्तरी तंज़ानिया के छोटे से इलाके में समेट दिया गया। औपनिवेशिक शासन से पहले मासाइयों के पास जितनी ज़मीन थी उसका लगभग 60 फ़ीसदी हिस्सा उनसे छीन लिया गया। उन्हें ऐसे सूखे इलाकों में कैद कर दिया गया जहाँ न तो अच्छी बारिश होती थी और न ही हरे-भरे चरागाह थे।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम सालों से ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार पूर्वी अफ्रीका में भी स्थानीय किसानों को अपनी खेती के क्षेत्रफल को ज़्यादा से ज़्यादा फैलाने के लिए प्रोत्साहित करने लगी। जैसे-जैसे खेती का प्रसार हुआ वैसे-वैसे चरागाह खेतों में तब्दील होने लगे। अंग्रेज़ों के आने से पहले मासाई आर्थिक और राजनीतिक, दोनों स्तर पर अपने किसान पड़ोसियों पर भारी पड़ते थे। औपनिवेशिक शासन के अंत तक आते-आते यह समीकरण बिल्कुल उलट चुका था।

बहुत सारे चरागाहों को शिकारगाह बना दिया गया। कीनिया में मासाई मारा व साम्बूरू नैशनल पार्क और तंज़ानिया में सेरेन्गेटी पार्क जैसे शिकारगाह इसी तरह अस्तित्व में आए थे। इन आरक्षित जंगलों में चरवाहों का आना मना था। इन इलाकों में न तो वे शिकार कर सकते थे और न अपने जानवरों को चरा सकते थे। ऐसे बहुत सारे आरक्षित जंगलों में अब तक मासाई अपने ढोर-डंगर चराया करते थे। मिसाल के तौर पर सेरेन्गेटी नैशनल पार्क का 14,760 वर्ग किलोमीटर से भी ज़्यादा क्षेत्रफल मासाइयों के चरागाहों पर कब्ज़ा करके बनाया गया था।

चित्र 14 - घास के बिना पशु (मवेशी, बकरियाँ और भेड़ें) कुपोषण का शिकार हो जाते हैं जिसका मतलब है कि चरवाहों के परिवारों और बच्चों के लिए भोजन कम पड़ने लगता है। सूखे और भोजन की सर्वाधिक कमी से ग्रस्त इलाका अम्बोसेली नैशनल पार्क के आसपास पड़ता है जिसकी पर्यटन से होने वाली आय पिछले साल लगभग 24 करोड़ कीनियन शिलिंग (लगभग 35 लाख अमेरिकी डॉलर) थी। किलिमंजारो जल परियोजना भी इसी इलाके से होकर जाती है लेकिन यहाँ रहने वाले समुदाय न तो पीने के लिए और न ही सिंचाई के लिए इस परियोजना के पानी का इस्तेमाल कर सकते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 15 – मासाई नाम 'मा' शब्द से निकला है। मा-साई का मतलब होता है 'मेरे लोग'। परंपरागत रूप से मासाई घुमंतू और चरवाहा समुदाय के लोग होते हैं जो अपनी आजीविका के लिए दूध और माँस पर आश्रित रहते हैं। ऊँचे तापमान और कम वर्षा के कारण यहाँ शुष्क, धूल भरे और बेहद गर्म हालात रहते हैं। इस अर्ध-शुष्क विषुवतवृत्तीय इलाके में सूखे के हालात सामान्य हैं। ऐसे समय में बहुत सारे जानवर मर जाते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

स्रोत च

अफ़्रीका की अन्य जगहों पर भी चरवाहों को इसी तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ा। दक्षिण-पश्चिम अफ़्रीका में स्थित नामीबिया के काओकोलैंड चरवाहे परंपरागत रूप से काओकोलैंड और पास ही में स्थित ओवाम्बोलैंड के बीच आते-जाते रहते थे। ये लोग आसपास के बाज़ारों में जानवरों की खाल, गोश्त और अन्य वस्तुएँ बेचा करते थे। नई भौगोलिक सीमाओं ने दूर-दूर के इलाकों में उनके आने-जाने पर पाबंदी लगा दी जिससे उनका पहले की तरह दोनों इलाकों में आना-जाना पूरी तरह बंद हो गया।

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के घुमंतू पशुपालकों की शिकायत थी :

'हम बड़ी मुश्किल में हैं। हम बस रोते रहते हैं। हमें कैद में डाल दिया गया है। हमें तो पता भी नहीं कि हमें बंद क्यों किया गया है। हम जेल में हैं। हमारे पास रहने की कोई जगह नहीं है...। हम दक्षिण से गोश्त नहीं ला सकते...। खालों को बाहर नहीं भेज सकते...। ओवाम्बोलैंड अब हमारे लिए बंद हो चुका है। हम लंबे समय तक ओवाम्बोलैंड में रहे हैं। हम अपने जानवरों को, अपनी भेड़ों और बकरियों को वहाँ ले जाना चाहते हैं। पर सीमाएँ बंद हैं। ये सीमाएँ हमें मारे दे रही हैं। जीना मुश्किल है।'

नामीबिया स्थित काओकोलैंड के चरवाहों का बयान, नामीबिया, 1949.

माइकेल बॉलिग, 'द कॉलोनियल एनकेप्स्युलेशन ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न नामीबियन पास्टोरल इकॉनॉमी', *अफ़्रीका*, 68 (4), 1998 में उद्धृत।

स्रोत छ

औपनिवेशिक अफ्रीका के बहुत सारे स्थानों पर पुलिस को चरवाहों के आने-जाने पर नज़र रखने और उन्हें गोरों के इलाकों में दाखिल होने से रोकने का बंदोबस्त किया गया था। नामीबिया में काओकोलैंड के चरवाहों के आने-जाने पर पाबंदियाँ लगाने के लिए दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के एक मजिस्ट्रेट ने पुलिस को ऐसा ही एक निर्देश दिया था :

'जब तक कोई बहुत खास हालात पैदा न हो जाएँ तब तक इन मूल निवासियों को इलाके में दाखिल होने के लिए पास जारी न किए जाएँ...। इस आदेश का मकसद इलाके में दाखिल होने वाले निवासियों की संख्या पर अंकुश लगाना और उन्हें काबू में रखना है इसलिए उन्हें सामान्य यात्री पास किसी भी हालत में जारी न किए जाएँ।'

'काओकोलैंड परमिट्स टू एंटर', मजिस्ट्रेट द्वारा ऊट्जो और कामान्जाब के पुलिस स्टेशन कमांडरों को लिखा गया पत्र, 24 नवंबर 1937.

स्रोत

अच्छे चरागाहों और जल संसाधनों के हाथ से निकल जाने की वजह से उस छोटे से इलाके पर दबाव बहुत ज़्यादा बढ़ गया जिसमें मासाइयों को धकेल दिया गया था। एक छोटे-से इलाके में लगातार चरायी का नतीजा यह हुआ कि चरागाहों का स्तर गिरने लगा। चारे की हमेशा कमी रहने लगी। मवेशियों का पेट भरना एक स्थायी समस्या बन गया।

3.2 सरहदें बंद हो गईं

उन्नीसवीं सदी में चरवाहे चरागाहों की खोज में बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे। जब एक जगह के चरागाह सूख जाते थे तो वे अपने रेवड़ लेकर किसी और जगह चले जाते थे। लेकिन उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों से औपनिवेशिक सरकार उनकी आवाजाही पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाने लगी।

मासाइयों की तरह अन्य चरवाहों को भी विशेष आरक्षित इलाकों की सीमाओं में कैद कर दिया गया। अब ये समुदाय इन आरक्षित इलाकों की सीमाओं के पार आ-जा नहीं सकते थे। वे विशेष परमिट लिए बिना अपने जानवरों को लेकर बाहर नहीं जा सकते थे। लेकिन परमिट हासिल करना भी कोई आसान काम नहीं था। इसके लिए उन्हें तरह-तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था और उन्हें तंग किया जाता था। अगर कोई नियमों का पालन नहीं करता था तो उसे कड़ी सज़ा दी जाती थी।

चरवाहों को गोरों के इलाके में पड़ने वाले बाज़ारों में दाखिल होने से भी रोक दिया गया। बहुत सारे इलाकों में तो वे कई तरह के व्यापार भी नहीं कर सकते थे। बाहर से आए गोरे और यूरोपीय औपनिवेशिक अफ़सर उन्हें खतरनाक और बर्बर स्वभाव वाला मानते थे। उनकी नज़र में ये ऐसे लोग थे जिनके साथ कम से कम संबंध रखना ही उचित था। लेकिन इन स्थानीय लोगों से किसी भी तरह के संबंध न रखना भी मुमकिन नहीं था। आखिर खानों से माल निकालने, सड़कें बनाने और शहर बसाने के लिए गोरों को इन कालों के श्रम का ही तो भरोसा था।

नई सरहदों ने चरवाहों की ज़िंदगी रातों-रात बदल डाली। नई पाबंदियों और बाधाओं की आड़ में उन्हें प्रताड़ित किया जाने लगा और वे छोटे-से इलाके में खुद को कैद-सा महसूस करने लगे। इससे उनकी चरवाही और व्यापारिक, दोनों तरह की गतिविधियों पर बहुत बुरा असर पड़ा। अब तक

चरवाहे न केवल मवेशी चराते थे बल्कि तरह-तरह के व्यवसाय भी किया करते थे। औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत थोप दी गई बंदिशों से उनका व्यापार बंद तो नहीं हुआ लेकिन अब उस पर तरह-तरह के अंकुश ज़रूर लग गए।

3.3 जब चरागाह सूख जाते हैं

सूखा दुनिया भर के चरवाहों की ज़िंदगी पर असर डालता है। जिस साल बारिश नहीं होती और चरागाह सूख जाते हैं अगर उस साल मवेशियों को किसी हरे-भरे इलाके में न ले जाया जाए तो उनके सामने भुखमरी का संकट पैदा हो जाता है। इसीलिए परंपरागत तौर पर चरवाहे घुमंतू स्वभाव के लोग होते हैं, वे यहाँ से वहाँ जाते ही रहते हैं। इसी घुमंतूपने की वजह से वे बुरे वक्त का सामना कर पाते हैं और संकट से बच निकलते हैं।

लेकिन औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद तो मासाइयों को एक निश्चित इलाके में कैद कर दिया गया था। उनके लिए एक इलाका आरक्षित कर दिया गया और चरागाहों की खोज में यहाँ-वहाँ भटकने पर रोक लगा दी गई। उन्हें बेहतरीन चरागाहों से महरूम कर दिया गया और एक ऐसी अर्ध-शुष्क पट्टी में रहने पर मजबूर कर दिया गया जहाँ सूखे की आशंका हमेशा बनी रहती थी। क्योंकि ये लोग संकट के समय भी अपने जानवरों को लेकर ऐसी जगह नहीं जा सकते थे जहाँ उन्हें अच्छे चरागाह मिल सकते थे। इसलिए सूखे के सालों में मासाइयों के बहुत सारे मवेशी भूख और बीमारियों की वजह से मारे जाते थे। 1930 की एक जाँच से पता चला कि कीनिया में मासाइयों के पास 7,20,000 मवेशी, 8,20,000 भेड़ और 1,71,000 गधे थे। 1933 और 1934 में पड़े केवल दो साल के सूखे के बाद इनमें से आधे से ज़्यादा जानवर मर चुके थे।

जैसे-जैसे चरने की जगह सिकुड़ती गई, सूखे के दुष्परिणाम भयानक रूप लेते चले गए। बार-बार आने वाले बुरे सालों की वजह से चरवाहों के जानवरों की संख्या में लगातार गिरावट आती गई।

3.4 सब पर एक जैसा असर नहीं पड़ा

औपनिवेशिक काल में अफ़्रीका के बाकी स्थानों की तरह मासाईलैंड में भी आए बदलावों से सारे चरवाहों पर एक जैसा असर नहीं पड़ा। उपनिवेश बनने से पहले मासाई समाज दो सामाजिक श्रेणियों में बँटा हुआ था – वरिष्ठ जन (ऐल्डर्स) और योद्धा (वॉरियर्स)। वरिष्ठ जन शासन चलाते थे। समुदाय से जुड़े मामलों पर विचार-विमर्श करने और अहम फ़ैसले लेने के लिए वे समय-समय पर सभा करते थे। योद्धाओं में ज़्यादातर नौजवान होते थे जिन्हें मुख्य रूप से लड़ाई लड़ने और कबीले की हिफ़ाज़त करने के लिए तैयार किया जाता था। वे समुदाय की रक्षा करते थे और दूसरे कबीलों के मवेशी छीन कर लाते थे। जहाँ जानवर ही संपत्ति हो वहाँ हमला करके दूसरों के जानवर छीन लेना एक महत्त्वपूर्ण काम होता था। अलग-अलग चरवाहा समुदायों की ताकत इन्हीं हमलों से तय होती थी। युवाओं को योद्धा वर्ग का हिस्सा तभी माना जाता था जब वे दूसरे समूह के मवेशियों को छीन कर और

चित्र 16 – योद्धा गहरे लाल रंग की शुका और चमकदार मोतियों के आभूषण पहनते हैं तथा स्टील की नोक वाला पाँच फ़ुट लंबा भाला रखते हैं। बारीकी से सँवारे गए उनके बाल गेरू से रंगे होते हैं। उगते सूरज को सम्मान देने के लिए वे पूर्व की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। योद्धा अपने समुदाय की रक्षा करते हैं और लड़के पशुओं को चराते हैं। सूखे के मौसम में योद्धा और लड़के, दोनों ही पशु चराते हैं। सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

चित्र 17 – आज भी योद्धा बनने के लिए युवकों को व्यापक अनुष्ठानों से गुज़रना पड़ता है हालाँकि अब यह प्रथा पहले जैसी प्रचलित नहीं है। इसके लिए युवकों को लगभग चार माह तक अपने कबीले के इलाके का दौरा करना पड़ता है। इस यात्रा के अंत में वे छापामारों की तरह दौड़कर अपने अहाते में घुसते हैं। इस समारोह के मौके पर युवक ढीले कपड़े पहनते हैं और पूरे दिन नाचते रहते हैं। इस अनुष्ठान के साथ ही वे जीवन के एक नए चरण में पहुँच जाते हैं। लड़कियों को इस तरह के अनुष्ठानों से नहीं गुज़रना पड़ता।
सौजन्य : द मासाई एसोसिएशन।

युद्ध में बहादुरी का प्रदर्शन करके अपनी मर्दानगी साबित कर देते थे। फिर भी वे वरिष्ठ जनों के नीचे रह कर ही काम करते थे।

मासाइयों के मामलों की देखभाल करने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने कई ऐसे फ़ैसले लिए जिनसे आने वाले सालों में बहुत गहरे असर पड़े। उन्होंने कई मासाई उपसमूहों के मुखिया तय कर दिए और अपने-अपने कबीले के सारे मामलों की ज़िम्मेदारी उन्हें ही सौंप दी। इसके बाद उन्होंने हमलों और लड़ाइयों पर पाबंदी लगा दी। इस तरह वरिष्ठ जनों और योद्धाओं, दोनों की परंपरागत सत्ता बहुत कमज़ोर हो गई।

जैसे-जैसे समय बीता, औपनिवेशिक सरकार द्वारा नियुक्त किए गए मुखिया माल इकट्ठा करने लगे। उनके पास नियमित आमदनी थी जिससे वे जानवर, साज़ो-सामान और ज़मीन खरीद सकते थे। वे अपने गरीब पड़ोसियों को लगान चुकाने के लिए कर्ज़ पर पैसा देते थे। उनमें से ज़्यादातर बाद में शहरों में जाकर बस गए और व्यापार करने लगे। उनके बीवी-बच्चे गाँव में ही रहकर जानवरों की देखभाल करते थे। उन्हें चरवाही और गैर-चरवाही, दोनों तरह की आमदनी होती थी। अगर उनके जानवर किसी वजह से घट जाएँ तो वे और जानवर खरीद सकते थे।

जो चरवाहे सिर्फ़ अपने जानवरों के सहारे ज़िंदगी बसर करते थे उनकी हालत अलग थी। उनके पास बुरे वक्त का सामना करने के लिए अकसर साधन नहीं होते थे। युद्ध और अकाल के दौरान उनका सब कुछ खत्म हो जाता था। तब उन्हें काम की तलाश में आसपास के शहरों की शरण लेनी पड़ती थी। कोई कच्चा कोयला जलाने का काम करने लगता था तो कोई कुछ और करता था। जिनकी तकदीर ज़्यादा अच्छी थी उन्हें सड़क या भवन निर्माण कार्यों में काम मिल जाता था।

इस तरह मासाई समाज में दो स्तरों पर बदलाव आए। पहला, वरिष्ठ जनों और योद्धाओं के बीच उम्र पर आधारित परंपरागत फ़र्क पूरी तरह खत्म भले न हुआ हो पर बुरी तरह अस्त-व्यस्त ज़रूर हो गया। दूसरा, अमीर और गरीब चरवाहों के बीच नया भेदभाव पैदा हुआ।

निष्कर्ष

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक विश्व में आए बदलावों से दुनिया के अलग-अलग चरवाहा समुदायों पर अलग-अलग तरह के असर पड़े हैं। नए कानूनों और सीमाओं ने उनकी आवाजाही का ढर्रा बदल दिया। जैसे-जैसे चरागाह खत्म होते गए, जानवरों को चराना एक मुश्किल काम होता चला गया और जो चरागाह बचे थे वे भी अत्यधिक इस्तेमाल की वजह से बेकार हो गए। सूखे के समय उनकी समस्याएँ पहले से भी ज़्यादा बढ़ गईं क्योंकि तब उनके जानवर बड़ी तादाद में दम तोड़ने लगते थे। अब उनके आने-जाने पर बहुत सारी बंदिशें थोप दी गई थीं इसलिए वे नए चरागाहों की तलाश भी नहीं कर सकते थे।

फिर भी चरवाहे बदलते वक्त के हिसाब से खुद को ढालते हैं। वे अपनी सालाना आवाजाही का रास्ता बदल लेते हैं, जानवरों की संख्या कम कर लेते हैं, नए इलाकों में दाखिल होने के लिए हर संभव लेन-देन करते हैं और राहत, रियायत व मदद के लिए सरकार पर राजनीतिक दबाव डालते हैं। वे उन इलाकों में अपने अधिकारों को बचाए रखने के लिए अपना संघर्ष जारी रखते हैं जहाँ से उन्हें खदेड़ने की कोशिश की जाती है और जंगलों के रखरखाव और प्रबंधन में अपना हिस्सा माँगते हैं।

चरवाहे अतीत के अवशेष नहीं हैं। वे ऐसे लोग नहीं हैं जिनके लिए आज की आधुनिक दुनिया में कोई जगह नहीं है। पर्यावरणवादी और अर्थशास्त्री अब इस बात को काफ़ी गंभीरता से मानने लगे हैं कि घुमंतू चरवाहों की जीवनशैली दुनिया के बहुत सारे पहाड़ी और सूखे इलाकों में जीवनयापन के लिए सबसे ज़्यादा उपयुक्त है।

चित्र 18 - जयपुर राजमार्ग पर राइका गड़रिये.
बड़ी सड़कों पर भारी यातायात ने गड़रियों के नए इलाके में जाने की प्रक्रिया को एक नया अनुभव बना दिया है।

क्रियाकलाप

1. कल्पना कीजिए कि यह 1950 का समय है और आप 60 वर्षीय राइका पशुपालक हैं। आप अपनी पोती को बता रहे हैं कि आज़ादी के बाद से आपके जीवन में क्या बदलाव आए हैं। आप उसे क्या बताएँगे?
2. मान लीजिए कि आपको एक प्रसिद्ध पत्रिका ने उपनिवेशवाद से पहले अफ्रीका में मासाइयों की स्थिति के बारे में एक लेख लिखने के लिए कहा है। वह लेख लिखिए और उसे एक सुंदर शीर्षक दीजिए।
3. चित्र 11 और 13 में चिह्नित चरवाहा समुदायों में से कुछ समुदायों के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा कीजिए।

क्रियाकलाप

प्रश्न

1. स्पष्ट कीजिए कि घुमंतू समुदायों को बार-बार एक जगह से दूसरी जगह क्यों जाना पड़ता है? इस निरंतर आवागमन से पर्यावरण को क्या लाभ हैं?
2. इस बारे में चर्चा कीजिए कि औपनिवेशिक सरकार ने निम्नलिखित कानून क्यों बनाए? यह भी बताइए कि इन कानूनों से चरवाहों के जीवन पर क्या असर पड़ा :
   - परती भूमि नियमावली
   - वन अधिनियम
   - अपराधी जनजाति अधिनियम
   - चराई कर
3. मासाई समुदाय के चरागाह उससे क्यों छिन गए? कारण बताएँ।
4. आधुनिक विश्व ने भारत और पूर्वी अफ्रीकी चरवाहा समुदायों के जीवन में जिन परिवर्तनों को जन्म दिया उनमें कई समानताएँ थीं। ऐसे दो परिवर्तनों के बारे में लिखिए जो भारतीय चरवाहों और मासाई गड़रियों, दोनों के बीच समान रूप से मौजूद थे।

?